हाड़ौती : साहित्य और स्वरूप

साहित्य और स्वरूप

डॉ. कन्हैयालाल शर्मा



सूर्य प्रकाशन मन्दिर
बीकानेर

प्रकाशक : सूर्य प्रकाशन मंदिर, बिस्सों का चौक, बीकानेर
संस्करण : १६[illegible]२
मूल्य : सोलह रुपये मात्र
मुद्रक : विकास आर्ट प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-३२

HAADOTEE SAHITYA AUR SWAROOP by Dr. Kanhaiyalal Sharma
Price Rs. 16.00

भूमिका

अपनी पी-एच० डी० उपाधि की शोध-यात्रा के काल में जब कभी साँस लेने का समय मिलता था तब उन क्षणों का उपयोग भी मैं लिखने के लिए कर लेता था। उस काल की लिखी रचनाओं के साथ-साथ उसके पूर्व और उत्तर कालों में हाड़ौती-विषयों पर जो कुछ मैंने लिखा है उनका संग्रह हाड़ौती साहित्य और स्वरूप मेरे अनुवरत चिन्तन का फल है।

किसी को अपना बचपन अच्छा लगता है और किसी को अपना घर। जब हम इन दोनों से दूर हो जाते है तब इनकी मिठास और बढ़ जाती है। किसी बोली और उनके लोक-साहित्य के सम्बन्ध में भी यही सत्य है। काल के चरणों के साथ बढ़कर जब हम राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हो गए हैं, तब एक बार पीछे मुड़कर देखने की इसलिए इच्छा होती है कि ऐसा करने से सुख मिलता है और अपने बचपन और घर की प्राप्ति का-सा आनन्द मिलता है।

पर यदि इतना-भर ही उद्देश्य बोली और लोक-साहित्य के अध्ययन का होता तो कदाचित् बुद्धिवादी मनुष्य इसे व्यर्थ का श्रम समझकर कभी का इससे विमुख हो गया होता। सम्भवतः वह यह भी मानता है कि अतीत को समझे बिना वर्तमान और भविष्य को समझना दुष्कर है, खण्ड को समझे बिना पूर्ण को नहीं समझा जा सकता, व्यष्टि को समझे बिना समष्टि को समझना असंभव है और लघु को समझकर ही वृहत् तक पहुँचा जा सकता है। अतः ऐसे अध्ययनों की दिशा काल-विशेष से सर्वकाल खण्ड से अखण्ड, व्यष्टि से समष्टि और लघु से वृहत् की ओर होती है। प्रस्तुत क्षेत्रीय विषयों के अध्ययन में मेरी यही दृष्टि रही है।

हाड़ौती-क्षेत्र की भौगोलिकता कुछ ऐसी है कि जो उसे पश्चिमी राजस्थान से तो पृथक् करती ही है; वह उसे ब्रज प्रदेश से भी पृथक् किये हुए है और मालवा से भी दुर्गमतावश वह असंपृक्त है। मरुप्रदेश, ब्रज और मालवा के मध्य में होने से उसका एक विशिष्ट अस्तित्व-व्यक्तित्व है, जो उसकी बोली और

लोक-साहित्य में व्यक्त हुआ है। उसका वह ऐसा वैशिष्ट्य है जो उसे एक ओर तो सुदूर गुजरात से जोड़े हुए है और दूसरी ओर उसका सम्बन्ध ब्रज क्षेत्र से है तथा वह पश्चिमी राजस्थान से भी भिन्न नहीं है। अतः उसकी बोली की ध्वनिगत और रूपगत विशेषताओं ने मुझे आकर्षित किया है। उसके लोक-साहित्य का वैशिष्ट्य उसे देश के शेष भागों से संपृक्त किये हुए है। अतः प्रकारान्तर से ऐसा अध्ययन एक सांस्कृतिक अध्ययन बन जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशक श्री सूर्यप्रकाश बिस्सा व दिनेश रंगा, व्यवस्थापक : सूर्य प्रकाशन मन्दिर, बीकानेर, राजस्थान के सुदूर उत्तर के निवासी हैं जिन्होंने उसके सुदूर दक्षिण की हाड़ौती बोली और लोक-साहित्य-विषयक हाड़ौती साहित्य और स्वरूप पुस्तक का प्रकाशन कर ऐसी अध्ययन-प्रेरणा को पुष्ट बनाया है और अपनी सुसंस्कृत रुचि का परिचय दिया है। अतः इस सांस्कृतिक महदनुष्ठान में उनके सहयोग के लिए मैं उनको साधुवाद देता हूँ।

जनवरी '७३
स्वाधीनता : रजत-जयन्ती वर्ष

डॉ० कन्हैयालाल शर्मा
अध्यक्ष
हिन्दी विभाग,
डूंगर महाविद्यालय, बीकानेर

अनुक्रम

हाड़ौती बोली का स्वरूप

हाड़ौती शब्द की उत्पत्ति 'हाड़ा' शब्द से हुई है। हाड़ौती उस भू-भाग की बोली है जिस पर चौहान वंश की शाखा—हाड़ा राजपूतों का शताब्दियों तक अधिकार रहा है। हाड़ा हाड़ौती प्रदेश में प्रमुख रूप से बसे निवासी[1] नहीं हैं, अपितु यहाँ के शासक रहे हैं। उन्हीं के नाम पर बने 'हाड़ौत'[2] से उसी प्रकार 'हाड़ौती' शब्द बना है जिस प्रकार शेखावत से शेखावाटी और तोरावत से तोरावाटी।

डा० ग्रियर्सन ने हाड़ौती बोली के क्षेत्र को इतना विस्तार दिया है कि 'सीपरी' को भी उसी के अंतर्गत स्वीकार कर लिया है, पर यह हाड़ौती से भिन्न बोली है।[3] हाड़ौती वर्तमान कोटा व बूंदी जिलों तथा झालावाड़ जिले के उत्तरी भाग की प्रमुख बोली है। कोटा जिले की शाहबाद व किशनगंज तहसीलों के पूर्वी-भाग के निवासी हाड़ौती-भाषी नहीं हैं और बूंदी जिले की इन्द्रगढ़ और नैनवा तहसीलों के उत्तरी भाग भी इस बोली के क्षेत्र से बाहर हैं। इस प्रकार हाड़ौती विशाल भू-भाग की बोली है जिसके बोलने वालों की संख्या सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार ५,६१,०३४ है।[4]

प्रति बारह कोस पर बोली बदलती है—की मान्यता के अनुसार इतने विशाल भूभाग की बोली में सर्वत्र एकरूपता नहीं पाई जाती है। तत्कालीन कोटा और बूंदी के राज्य क्रमशः दक्षिणी हाड़ौती और उत्तरी हाड़ौती की सीमा बनाते हैं। हाड़ौती के दोनों रूपों में इस प्रकार अन्तर मिलता है—

---

१. ग्रियर्सन, लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया, भाग २, पृ० २०२।

२. 'हाड़ौत' शब्द काल्पनिक है और इसकी उत्पत्ति हाड़ा-पुत्र, हाड़ा-कृत, हाड़ावत, हाड़ौत से हुई है। इसकी कल्पना का आधार रामसिंहत आदि शब्द रहे हैं, जो राजस्थान की क्षेत्रीय-जाति में परम्परागत हैं।

३. देखिये—हाड़ौती बोली और साहित्य, बोली-खण्ड, पृ० १०।

४. सेन्सस ऑफ इंडिया, १९६१, पृ० ८४।

१. उत्तरी हाड़ौती में पुरुषवाचक सर्वनामों में उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष में 'मे' और 'ते' रूप प्रायः सुनाई पड़ते हैं, जो दोनों वचनों में प्रयुक्त होते हैं, पर अन्वित क्रिया सदैव बहुवचन में रहती है। दक्षिणी हाड़ौती में म्हूँ, तू या थू एकवचनीय रूप है और म्हाँ, थाँ बहुवचन के रूप हैं, जो उत्तरी हाड़ौती क्षेत्र में भी प्रयुक्त होते हैं।

२. दक्षिणी हाड़ौती के सामान्य भविष्यत् के रूप क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ के साथ -ग- प्रत्यय जोड़ने से सम्पन्न होते हैं, पर उत्तरी हाड़ौती के ऐसे रूप धातु शब्दों के साथ -सी प्रत्यय के योग से सम्पन्न होते हैं, यथा — तू जावैगो (दक्षिणी हाड़ौती) और तू जासी (उत्तरी हाड़ौती)।

३. दक्षिणी हाड़ौती के स्थानवाचक क्रिया विशेषण ऍहाँ, ज्याँ, खाँ आदि हैं और स्थान-संकेतवाचक क्रिया विशेषण अठीं, कठीं आदि हैं। उत्तरी हाड़ौती में इनके स्थान पर उठै, कठै आदि प्रयुक्त होते हैं।

हाड़ौती बोली की ध्वनिगत और रूपात्मक कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. ध्वनिगत विशेषताएँ

(क) स्वरगत विशेषताएं—

१. हाड़ौती बोली में आठ स्वर प्रयुक्त होते हैं। वे हैं—अ, अ̄[1], आ, ई, उ, ऊ, ए तथा ओ। इन स्वरों में 'अ̄' अर्द्ध संवृत, दीर्घ, मध्य स्वर है, जो 'आ' विवृत, दीर्घ, मध्य स्वर से भिन्न हैं। इसे ह्रस्व 'अ' का दीर्घ रूप कहा जा सकता है। 'अ' को 'आ' का ह्रस्व रूप व्याकरणिक आवश्यकता से माना है।[2] 'अ̄' शब्द के आदि में प्रयुक्त नहीं होता है और न स्वतन्त्र रूप से ही शब्द में प्रयुक्त होता है।

---

१. उपर्युक्त लिपि-चिह्न के अभाव में "ˆ" संकेत से काम लिया गया है।

२. (क) 'यदि ह्रस्व 'अ' को दीर्घ 'आ' से इस दिशा में भिन्न समझा जाता तो 'तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम्' (१-१-९) बाधित हो जाता और उक्त सूत्रगत एकरूपता समाप्त हो जाती। ह्रस्व 'अ' को अपना स्वाभाविक अधिकार, जो अब तक पाणिनि अष्टाध्यायी में बाधित था, दिलाने के लिए वे 'अ अ इति' (८-४-६८) सूत्र की सृष्टि करते हैं, जिससे तात्पर्य यह है कि अब जब पुस्तक समाप्ति पर है तब ह्रस्व 'अ' को संवृत मानना चाहिए, जिसे अब तक आवश्यकतावश विवृत माना गया था।'

—डॉ० वैलेंटाइन श्रीशचंद्र वसु, सिद्धान्त कौमुदी, पृ० ११

(ख) इस लेख में " " लिपि-चिह्न को सर्वत्र 'अ̄' दीर्घ मध्य स्वर का मात्रा-चिह्न पढ़ा जाना चाहिए।

२. हाड़ौती में 'इ', 'ऐ' तथा 'औ'[1] स्वरों का प्रयोग नहीं मिलता है, यथा—आम्ली (हि० इमली), अस्यो (हि० ऐसा) तथा वोरत् (हि० औरत)। हाड़ौती में 'इ' स्वर का एकान्त लोप उसकी ऐसी विशेषता है जो उसे अन्य राजस्थानी बोलियों से पृथक् कर देती है, जैसे—हा० मनख, मारवाड़ी मिनख।

३. 'अ' स्वर का उच्चारण असंयुक्त अन्त्य व्यंजन के साथ तथा दीर्घ स्वरों के मध्य में नहीं होता है (यद्यपि लिखा जाता है), यथा—रांगस्, वैल्, छाप्को (चाबुक), तोब्रो।

४. हाड़ौती में स्वर-संकोच की प्रवृत्ति आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की अपेक्षा अधिक विकसित है, यथा— ग्हाँ (हि० यहाँ), ग्या (हि० गया), वोतार् (हि० अवतार)।

५. हाड़ौती स्वर-ध्वनियों में अकारण अनुनासिकता के अनेक उदाहरण मिलते हैं, यथा—घांस् (हि० घास), रांगस् (हि० राक्षस), कांच् (हि० काच), दैंत् (दैत्य)।

(ख) व्यंजनगत विशेषताएँ—

१. हाड़ौती में प्रयुक्त ३६ व्यंजन ध्वनियों में 'ळ्' तथा 'व़्' ऐसे व्यंजन हैं, जो हिन्दी में प्रयुक्त नहीं होते हैं, पर राजस्थानी बोलियों में मिलते हैं। हाड़ौती का 'ळ' अल्पप्राण, सघोष, उत्क्षिप्त, पार्श्विक, मूर्द्धन्य व्यंजन है और इसका व्यवहार शब्द के आदि में नहीं होता है। चाळीस्, स्याळी, आदि शब्दों में यह प्रयुक्त होता है। 'व़्' व्यंजन द्वयोष्ठ्य, सघोष, अर्द्धस्वर है और इसका उच्चारण अंग्रेजी 'व्ही' के समान होता है। इसका प्रयोग बहुत कम शब्दों में होता है; यथा—व़ाने, ल्व़ारी (लुहारी)।

२. हाड़ौती अनुनासिक व्यंजनों में 'ङ्' का स्वतन्त्र रूप में प्रयोग नहीं होता है और न शब्द के आदि में यह प्रयुक्त होता है, यथा—जङ्ग (युद्ध), नङ्ग-धड़ङ्ग (नग्न)। 'ञ्' हाड़ौती के कक्का (व्यंजन माला) में तो स्वीकृत है—नन्नो (ञञ्ञो) खांडो चन्द्रमा, पर इसका प्रयोग संयुक्त या असंयुक्त व्यंजन के रूप में किसी भी शब्द में नहीं सुना जाता है।

३. हाड़ौती में मध्य-व्यंजन-संयोग के विविध रूप मिलते हैं, पर आदि-व्यंजन संयोग में उत्तर व्यजन अर्द्धस्वर होता है, फ्याळी (पहेलिका), स्याळी (शलली), फ्वांरो (फव्वारा)।

४. हाड़ौती में महाप्राण ध्वनि शब्द में एक ही बार प्रयुक्त होती है (अनुकरणात्मक शब्द इसके अपवाद हैं) और वह शब्द के आदि की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति अपनाये हुए है; यथा—हाती (हि० हाथी), ख्ॉं (हि० कहाँ), संज्या

---

1. यद्यपि हाड़ौती शब्द में यह स्वर है।

या सांज् (संध्या), फावणू (हि० पाहुन) । अनेक शब्दों में अकारण महाप्राणता भी पाई जाती है, यथा—फाणी (हि० पानी), छाप्को (हि० चाबुक) ।

२. रूपगत विशेषताएँ

१. हाड़ौती शब्द-रचना में -'ड़्'- प्रत्यय का बड़ा महत्त्व है । यह स्वार्थे प्रत्यय शब्द की प्रियता, घृणा या लघुता सूचकता में प्रयुक्त होता है, जैसे—मुख्ड़ौ (मुख), न्हार्ड़ौ (न्हार) । कहीं-कहीं इसके स्थान पर-'ट्' प्रत्यय भी प्रयुक्त होता है, यथा—तेल्टी (तेली), बलाव्टौ (बलाव) ।

वस्तुत: ये दोनों प्रत्यय एक-दूसरे के रूपान्तर हैं । प्राकृत में प्रयुक्त -'ट्'- प्रत्यय राजस्थानी में -'ड़्' भी बन गया है । अपभ्रंश में प्रयोग की बहुलता थी[1] ।

२. हाड़ौती संज्ञा-शब्दों के एकवचन पुल्लिग रूपों की विशेपता उनकी ओकारान्तता है, जैसे—घोड़ो, छोरो, फापो (पैर का अग्र भाग) । यह विशेपता समस्त राजस्थानी बोलियों में मिलती है तथा ब्रजभाषा में भी पाई जाती है । *हाड़ौती संज्ञा-शब्द तो विभिन्न स्वरान्त या व्यंजनान्त हो सकते हैं, पर सप्रत्यय गुण*-वाचक विशेषणों में यह प्रवृत्ति नियमित है, यथा—काळो घोड़ो, धोळो बैल, रातो तेली ।

३. हाड़ौती में दो लिंग होते हैं—पुल्लिग और स्त्रीलिंग । यदि संज्ञा शब्दों की ओकारान्तता पुल्लिग की द्योतक है तो उनकी ईकरान्तता स्त्रीलिंग की द्योतक है, पर कर्तृवाचक पुल्लिग शब्द ईकरान्त होते हैं, यथा—तेली, माळी । हाड़ौती का प्रमुख स्त्री-प्रत्यय-'ई' है, जैसे—बांदरा-बांदरी स्वाळयो-स्वाळी । अण-आणी, -आई प्रत्यय भी पुल्लिग शब्दों से स्त्रीलिंग शब्द बनाने के लिए प्रयुक्त होते हैं, यथा—मोग्यो-मोगण, पंडत-पंडताणी, लोग-लुगाई । शेश-वण,-णी आदि प्रत्यय इन्हीं प्रत्ययों में से किसी एक के रूपान्तर हैं ।

४. हाड़ौती में दो वचन मिलते हैं । बहुवचन या प्रत्यय- 'आ' है, जो स्त्रीलिंग शब्दों में 'आ' रूप में मिलता है, यथा—छोरो-छोरा, छोरी-छार्यां, नाई-नाण्यां । प्रा० भा० आ० तथा म० भा० आ० में जहाँ स्त्रीलिंग शब्द में 'इ' या 'ई' स्वर ध्वनि थी वह हाड़ौती में आकर लुप्त हो गई, पर बहुवचन शब्दों में वे अपना अस्तित्व बनाये रहीं । मालण्यां, चारण्यां आदि ऐसे ही उदाहरण हैं । व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्दों के बहुवचन का प्रत्यय- 'होणू' है, जैसे—गोप्या होणू ।

५. हाड़ौती कारक-रूपों की प्रक्रिया अत्यन्त सरल है । शब्द-रूपों में दो अविकारी तथा दो विकारी रूप मिलते हैं । विकारी रूपों के साथ विभिन्न पर-सर्ग जुड़कर भिन्न-भिन्न कारकीय सम्बन्धों को प्रकट करते हैं । अविकारी एक-

---

१. डॉ० नामवरसिंह—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ५० ।

वचन का प्रत्यय शून्य हैं और बहुवचन का 'आ' है जिनसे छोरो और छोरा रूप सम्पन्न होते हैं। स्त्रीलिंग के ऐसे बहुवचन रूपों का प्रत्यय- 'आँ' है जो शब्द के अन्त्य स्वर के मात्रा-भेद से-'याँ' या-'वाँ' रूप ले लेता है। विकारी पुल्लिंग शब्द के एकवचन का-'आ' प्रत्यय है और बहुवचन का 'आँ' जिनसे छोरा और छोरां रूप बनते हैं।

हाड़ौती में रूपों की अल्पता से जो अस्पष्टता आ सकती थी उसकी पूर्ति परसर्गों द्वारा हो जाती है। हाड़ौती के परसर्ग निम्न हैं :

कर्ता—नैं

कर्म व सम्प्रदान—नैं, ई

करण और अपादान—सूं, सैं

सम्बन्ध—कै, का, की, को, रै, रा, री, रो, णैं, णा, णी, ण;

अधिकरण—में, पै; सम्बन्ध कारक के परसर्गों की चार श्रेणियाँ हैं जिनसे भेद्य के लिंग-वचन और कभी-कभी कारक रूप का बोध इस प्रकार होता है—

(१) ओकारान्त परसर्ग—भेद्य पुल्लिंग, एकवचन और अविकारी कर्ता।

(२) औकारान्त परसर्ग—भेद्य पुल्लिंग, एकवचन या बहुवचन तथा अविकारी कर्त्ता के अतिरिक्त कारक रूप।

(३) ईकारान्त परसर्ग—भेद्य स्त्रीलिंग, सभी वचन और कारक रूप ।

(४) आकारान्त परसर्ग—भेद्य अविकारी रूप में।

रकार-युक्त तथा णकार-युक्त परसर्ग तो सर्वनामों के साथ ही प्रयुक्त होते हैं और ककार-युक्त परसर्ग शेष नामिकों में प्रयुक्त होते हैं।

६. सर्वनामों के प्रायः सभी रूप हाड़ौती में मिलते हैं। पुरुषवाचक अन्य पुरुष सर्वनामों तथा दूरवर्ती निश्चयवाचक सर्वनामों के रूप एक ही हैं, वे हैं—ऊ, वे, वा। इसी प्रकार निजवाचक 'आप्' और आदरसूचक 'आप्' अपने प्रातिपदिक तथा अन्यरूपों में समान हैं, पर निजवाचक सर्वनाम के साथ सम्बन्ध कारक में रो, णी आदि परसर्ग प्रयुक्त होते हैं, जबकि आदरसूचक सर्वनाम के साथ इसी कारक में को, का आदि परसर्ग प्रयुक्त होते हैं। हाड़ौती में निजवाचक सर्वनाम के रूप में पुरुषवाचक सर्वनामों के प्रयोग भी प्रायः मिलते हैं, यथा, तू थारो काम कर्, म्हूँ म्हारा घर जाऊं।

७. हाड़ौती गुणवाचक विशेषणों के दो रूप मिलते हैं :

क. सप्रत्यय गुणवाचक विशेषण, जिनका प्रत्यय-विधान इस प्रकार है—

(१) अविकारी पुल्लिंग एकवचन में—ओ।

(२) विकारी पुल्लिंग शेष रूपों में—आ।

(३) स्त्रीलिंग के सभी रूपों में—ई।

इनके उदाहरण है—काळो बैल्, ऊँचा मकान्, धोळी गाय्।

ख. अप्रत्यय गुणवाचक विशेषण प्राय: व्यंजनान्त होते हैं, जैसे—लाल् फागड़ी (पगड़ी), लाल् स्यापो (साफा), पर संज्ञा शब्दों से बने ऐसे विशेषण स्वरान्त होते हैं, यथा—कोई देसी गाय् या बैल् ।

हाड़ौती में समूहवाची संख्यावाचक विशेषणों में जोड़ों (दो का समूह), गंडो (चार का समूह) और पचोळे (पाँच का समूह) उल्लेखनीय हैं । संख्या की अनिश्चितता प्रकट करने के लिए वीसेक्, दसेक् की प्रणाली अपनायी जाती है ।

८. क. हाड़ौती के अस्तिवाचक क्रिया-रूप छै, छो आदि उसे पश्चिमी तथा पूर्वी राजस्थानी की अनेक बोलियों से पृथक् कर देते हैं । इस दृष्टि से वह जयपुरी के समीप है । डा० ग्रियर्सन ने ऐसी समानताओं को ध्यान में रखकर हाड़ौती को जयपुर की उपबोली रूप में स्वीकार किया है, पर दोनों में ऐसी अनेक असमानताएँ हैं, जो उक्त सम्बन्ध-स्थापन में बाधक हैं ।

ख. हाड़ौती के वर्तमान निश्चयार्थ का विकास हिन्दी के समान संस्कृत 'शतृ' कृदन्त से न होकर लट् लकार से हुआ है । इसलिये ऊ जावै, ऊ दौड़े रूप हाड़ौती में मिलते हैं । इसी भाव को व्यक्त करने के लिए अस्तिवाचक सहायक क्रिया का वर्तमान निश्चयार्थ का रूप भी प्रयुक्त होता है, यथा—ऊ जावै छै, ऊ दौड़े छै ।

ग. हाड़ौती का भूत निश्चयार्थ संस्कृत के भूतकालिक कृदन्त से बना है । यहाँ क्रिया के लिंग वचन सकर्मक क्रिया में कर्म के अनुसार होते हैं और कर्ता तृतीया में प्रयुक्त होता है, यथा—मनै रोटी खाई, पर वर्तमान निश्चयार्थ में इससे भिन्न स्थिति है, यथा—म्हूँ रोटी खाऊँ छूं । अकर्मक रूप में कर्त्ता का अन्वय क्रिया के साथ होता है, यथा—म्हूँ दोड़्यो, वा दोड़ी ।

घ. हाड़ौती क्रियार्थक-संज्ञा धातु के साथ -'बो' प्रत्यय या -'णू' प्रत्यय जोड़ने से सम्पन्न होती है, यथा—करबा, कर्णू ।

ङ. वर्तमानकालिक कृदन्त प्रत्यय -'तो' (पु०) और -'ती' (स्त्री०) हैं और भूतकालिक कृदंत प्रत्यय -'यो' (पु०) और -'ई' (स्त्री०) हैं, जो धातु के साथ इस प्रकार लगते हैं—उग्-तो, खा-ती, खा-यो, खा-ई । काल-रचना में कृदन्त प्रयुक्त होते हैं । इनके अतिरिक्त मुख्य क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ के रूप भी सहायक होते हैं । इनके उदाहरण हैं—ऊ चालतो होवैगो (भविष्य अपूर्ण निश्चयार्थ), ऊ चाल्यो छै (भूत पूर्ण निश्चयार्थ) तथा ऊ चालै छै (वर्तमान पूर्ण निश्चयार्थ) ।

च. प्रेरणार्थक धातु रूपों में -'आ' या '-वा' प्रत्यय धातु के साथ लगते हैं । -'आ' के योग से सामान्य प्रेरणार्थक धातु बनती है, जब कि -'वा' प्रत्यय के योग से द्विगुणित प्रेरणार्थक धातु बनती है, यथा—पका-पक्वा, चुरा-चुर्वा ।

छ. पूर्वकालिक क्रिया के हाड़ौती के रूप दो मिलते हैं—

धातु + -कैं प्रत्यय के योग से सम्पन्न ।

धातु + -अर् प्रत्यय के योग से सम्पन्न ।

इनके उदाहरण हैं—खाकै, खार् । यदि धातु की द्विरुक्ति के उपरान्त ये, प्रत्यय प्रयुक्त हों तो उससे क्रिया की पुनः-पुनः आवृत्ति का संकेत मिलता है, यथा—ऊ रो-रोर् थाक् ग्यो ।

ज. हाड़ौती में संयुक्त-क्रियाएँ भी पाई जाती हैं, जो मुख्य धातु के पूर्वकालिक कृदंत, भूतकालिक कृदंत, वर्तमानकालिक कृदंत और क्रियार्थक संज्ञा के साथ गौण क्रिया के काल-रूपों को जोड़ने से बनती हैं, यथा—भाग्ग्यो, चालबू करूँ, देखतो रीजे और भागबो छावै ।

हाड़ौती बोली है और बोली में वाक्य लम्बाकारी होते हैं । इसलिए मिश्र तथा संयुक्त वाक्य कम सुनने में आते हैं; साधारण वाक्य ही प्रायः प्रयुक्त होते हैं, जो एक शब्द से लेकर छः-सात शब्दों तक के हो सकते हैं । यद्यपि बोलचाल में वाक्य में शब्द का स्थान निश्चित है—कर्ता + अन्य कारक रूप + कर्म + क्रिया, पर अर्थ-भेद व बल से स्थानों में परिवर्तन होता रहता है—म्हनै रोटी खाई (सामान्य कथन), रोटी म्हनै खाई (कर्म पर बल), वा आई (सामान्य कथन), आई नै वा (क्रिया पर बल) ।

शब्द-क्रम बदलने पर कुछ अवस्थाओं में अर्थ बदल जाता है, जैसे—न्हार् कुत्तो खावे छै और कुत्तो न्हार् खावे छै ।

वाक्य-रचना के कुछ नियम इस प्रकार हैं :

१. भेद्य शब्द भेदक के पास रहता है—बाँदरा को बच्चो ।
२. निजवाचक सर्वनाम पुरुषवाचक सर्वनाम के बाद में आता है—तू आप्णों काम् कर् ।
३. विशेषण विशेष्य से पूर्व आता है—काळो घोड़ो ।
४. संयुक्त क्रिया में प्रधान क्रिया गौण क्रिया से पूर्व आती है—उठ् बैठ्यो ।

हाड़ौती बोली का वर्गीकरण

ऐसा प्रचलित है कि हर बारह कोस पर बोली बदलती है । पर जब हाड़ौती के क्षेत्र पर हम दृष्टिपात करते हैं तब हमें आश्चर्य होता है कि इस क्षेत्र के उत्तरी भाग का निवासी लगभग वही बोली बोलता है जो दक्षिण का निवासी बोलता है । इसी प्रकार पूर्व तथा पश्चिमी सीमाओं के निवासियों की बोलियों में भी उल्लेखनीय अंतर नहीं है । फिर भी तनिक-सा अंतर उत्तर तथा दक्षिण की बोलियों में मिलता है जिसके आधार पर हम हाड़ौती को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं :

१. उत्तरी हाड़ौती ।

२. दक्षिणी हाड़ौती ।

उत्तरी तथा दक्षिणी हाड़ौती के बीच की सीमा चम्बल नदी द्वारा बनाई गई है । पर चम्बल के उत्तर का वह भाग, जो तत्कालीन कोटा राज्य का ही भाग था, दक्षिणी हाड़ौती के अन्तर्गत ही रहेगा, क्योंकि कोटा राज्य के निर्माण के उपरान्त इस भूभाग का प्रेरणा-केन्द्र कोटा रहा है । इस प्रकार वर्तमान बूंदी जिले का वह भाग जो हाड़ौती-भाषी है उत्तरी हाड़ौती क्षेत्र में आता है और कोटा जिला का हाड़ौती-भाषी क्षेत्र दक्षिणी हाड़ौती-क्षेत्र में आता है ।

उत्तरी हाड़ौती और दक्षिणी हाड़ौती का अंतर इस प्रकार है :

१. उत्तरी हाड़ौती में पुरुषवाचक सर्वनामों में उत्तम पुरुष तथा मध्यम पुरुष में क्रमशः 'मे' और 'ते' रूप प्रायः सुन पड़ते हैं । ये एकवचन में भी प्रयुक्त होते हैं और बहुवचन में भी, पर इनके साथ क्रिया सदैव बहुवचन की आती है। दक्षिणी हाड़ौती में क्रमशः म्हूं, थू या तू रूप एकवचनीय हैं और म्हां तथा थां बहुवचन के रूप हैं तथा क्रिया ऐसे शब्दों के अनुरूप लिंग-वचन में रहती है । उत्तरी हाड़ौती के उपर्युक्त रूपों के अतिरिक्त दक्षिणी हाड़ौती के रूप भी उत्तरी हाड़ौती क्षेत्र में प्रयुक्त होते हैं ।

२. दक्षिणी हाड़ौती में क्रिया के सामान्य भविष्यत् के रूप गो, गूं, गा आदि को क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ रूप में जोड़ने से सम्पन्न होते हैं, पर उत्तरी हाड़ौती में ये धातु-शब्दों के साथ -सी, -स्यूं आदि के योग से भी बनते हैं । इस प्रकार दक्षिणी हाड़ौती के 'तू आवैगो' वाक्य के अतिरिक्त 'तू जासी'— प्रकार के वाक्य भी मिलते हैं ।

३. जहाँ दक्षिणी हाड़ौती में ऱ्हां, ज्यां, खां आदि स्थानवाचक क्रिया-विशेषण प्रायः सुनने को मिलते हैं और स्थान-संकेत-वाचक क्रिया-विशेषण अठीं, उठीं, जठीं भी सुने जाते हैं, वहाँ उत्तरी हाड़ौती में अठै, उठै, कठै शब्द प्रायः सुनने में आते हैं । शेखावाटी में भी यही स्थान-वाचक क्रिया-विशेषण प्रयुक्त होते हैं ।

हाड़ौती में ध्वनि-शिक्षा और लिपि

कक्का या व्यंजन-माला

हाड़ौती की कोई स्वतंत्र वर्णमाला नहीं है। हाड़ौती-क्षेत्र में विद्यार्थी को वही सीखना पड़ता है जो हिन्दी-क्षेत्र के विद्यार्थी को सीखना पड़ता है। स्वर और व्यंजनों की संख्या भी लगभग वही है, यद्यपि व्यवहार में कम ही स्वर तथा व्यंजन आते हैं। प्राचीन पद्धति से शिक्षा-प्राप्त करने वाला विद्यार्थी 'वारखड़ी' या 'द्वादशाक्षरी' सीखता है। वस्तुतः ये द्वादश या बारह स्वर हैं जिनका विविध व्यंजनों के साथ प्रयोग करना ही वारखड़ी कहलाता है, इस प्रकार प्रत्येक व्यंजन के रूप इस प्रकार मिलते हैं :

(१) क, का, कि, की, कु, कू, के, कै, को, कौ, कं, कः।

(२) ख, खा, खि, खी, खु, खू, खे, खै, खो, खौ, खं, खः, आदि।

प्राचीन परंपरागत 'वारखड़ी' के इन रूपों से स्वरों की संख्या निश्चित हो जाती है। हाड़ौती की 'वारखड़ी' के वारह स्वर इस प्रकार हैं : अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः। ये स्वर प्राचीन काल में इस क्षेत्र में व्यवहार में आते होंगे, पर आधुनिक काल में इनमें से 'इ', 'ऐ', 'औ' तथा 'अः' के प्रयोग हाड़ौती बोलचाल में नहीं सुनायी पड़ते।

हाड़ौती में व्यंजन-शिक्षा, जिसे यहाँ 'कक्का' कहा जाता है, की बड़ी रोचक पद्धति प्रचलित है। 'क' इस पद्धति का आदि अक्षर होने के नाते व्यंजन-माला का पर्याय बन गया है। हाड़ौती में एक मुहावरा भी प्रचलित है, जो व्यक्ति की निरक्षरता को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है : 'जाणै तो कक्को ई नै' अर्थात् नितान्त निरक्षर है। यह 'कक्का' या व्यंजन-शिक्षा इस प्रकार है :

कक्का र कैवळियो। कक्का खूनै चीर्यो। गग्गा गोरी गाय। घग्गो घटूल्यो। नन्या वाळो द्वाळो। चड़ा चड़ा की चाँचोड़ी। सज्या वज्या पोटाळोप। जज्जायां की घोंसोड़ी। नन्या खांडो चंदरमा। कुटका मेडी खुटकड़ी। टट्टो घीर घलावणों। डड्डा डावड़ गांठोड़ी। डड्डा पूंछड़ फूंचोड़ी। राणा धारी तीन रींगटी। ततो

तम्बोली तांत्रो। ताँत मार्‌यो थांबो। दद्दो द्‌वाल्याँ दीवट को। दद्दो धन्नक छोड़्यां जाय। आगैं नन्यो भाग्यो जाय। पा पा फाटकड़ी। फप्पो फैलांत को। बब्बो बाड़ी बैंगण्यां। बब्बो मूंछ कटार को। मम्मा मात आगळो। आयो जाड़ा पेट को। रर्रो राव राखोली। लल्लो लाव स्वाळ्यो। लल्लो लाव तळाँ की लौ। बाटळो की बींदो की। सस्सो नंगोटो। सस्सो फला रों। हाहा हींडोली। कड़्याँ कटको मोरड़ो। च्यार बींद्यां चोरड़ो।

इस व्यंजन-शिक्षा में मनोवैज्ञानिक पद्धति का निर्वाह मिलता है। प्रारम्भिक कक्षाओं में अध्ययन के प्रति रुचि जाग्रत करने के लिए चित्रमयी पुस्तकों से शिक्षा देने की पद्धति आज प्रचलित है। इसीलिए बच्चे 'क' कबूतर से अपनी व्यंजन-शिक्षा आरम्भ करते हैं और कबूतर के चित्र के साथ 'क' रूप में बनी रेखाएँ इस चित्र-द्वारा सहज ही स्मरण रह जाती हैं।

इससे एक भिन्न पद्धति भी है, जिसे वर्णमाला याद करते समय बच्चों द्वारा अपनाया जाता है। यह पद्धति गाकर याद करने की है। इसे ही पहाड़ों को याद करते समय छोटे-छोटे बालक अपनाते हैं। वे 'एक दुवा दो और दो दुवा च्यार' को गाकर याद करते हैं और इस प्रकार रूखे पहाड़े सरलता से याद कर लेते हैं। इस पद्धति के अपनाने से उनके कोमल मस्तिष्क पर अधिक बोझ नहीं पड़ता है।

अतः यह स्पष्ट है कि नीरस अक्षर-ज्ञान को सरलता के साथ हृदयंगम करने के लिए चित्रकला और संगीतकला का आश्रय आज भी लिया जाता है। हाड़ौती का 'कक्का' इन दोनों का समन्वित रूप है। उसे गाकर भी याद किया जाता है और प्रत्येक अक्षर के साथ ऐसा सार्थक चित्र भी जुड़ा हुआ है जो उस व्यंजन की आकृति के अनुरूप होता है तथा चित्रगत वस्तु उसके आसपास की बिखरी हुई वस्तुओं में से होती है। यह 'कक्का' उस समय अति मनोवैज्ञानिक रहा होगा, जब मुद्रण-यंत्रों के अभाव में पुस्तकों के दर्शन जनसाधारण को दुर्लभ थे।

उपर्युक्त वर्णमाला पर दृष्टिपात करने के उपरान्त अधिकांश व्यंजनों को चित्र द्वारा समझाये जाने की पद्धति का स्पष्ट बोध हो जाता है। कुछ व्यंजनों के चित्रेतर संकेत भी मिलते हैं, पर ऐसे भी संकेत प्रायः किसी चित्रमय व्यंजन की ओर होते हैं। ज्ञात के सहारे अज्ञात को हृदयंगम करना सरल हो जाता है। इस दृष्टि से ऐसे संकेत भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

सीद'ा का ध्वनि-वर्गीकरण

हाड़ौती के प्रत्येक विद्यार्थी को साक्षर बनने के लिए 'कक्का' तथा 'सीद'ा' अवश्य पढ़ना पड़ता था। 'सीद'ा' या 'सीधा' उसी प्रकार का शब्द है जिस प्रकार

का 'कक्का' है। जिस प्रकार 'कक्का' व्यंजन-माला को ग्रहण करने की प्रवृत्ति का द्योतक है उसी प्रकार 'सीधा' समस्त अक्षरों का वैयाकरणिक विश्लेपण है। शर्ववर्मा के द्वारा संस्कृत-शिक्षा को सुगम बनाने की प्रक्रिया का परिणाम 'सीद'ा' है।

हाड़ौती का 'सीद'ा' 'कातंत्र-रूपमाला' से लिया गया है।[1] पाणिनि का व्याकरण पंडितों में सम्मानित रहा, पर जनसाधारण में वह ग्राह्य नहीं हो सका। वह दुरूह था, विशाल था। पाणिनि के आधार पर अनेक व्याकरण-ग्रन्थ रचे गये, 'शर्ववर्मा ने ऐन्द्र व्याकरण के आधार पर कातन्त्र व्याकरण की रचना सम्भवतः ईसा की पहली शताब्दी में की थी।[2] इसकी रचना 'बाल-बोधाय' हुई थी। राजस्थान जैन-मत के प्रचार का क्षेत्र होने के फलस्वरूप इस व्याकरण का प्रचार जन-जन में हो गया था, पर कालानन्तर विद्यार्थी इसे बिना समझे 'तोता-रटन' प्रणाली से घोटने लगे।

नीचे हाड़ौती का 'सीदा' और उसका 'कातंत्र रूपमालागत' शुद्ध रूप दिया जा रहा है।

हाड़ौती सीद'ा	कातंत्र रूपमालागत शुद्ध रूप
सीदो वरणा, समामुनाया	सिद्धो वर्ण समाम्नाय :
चत्रु-चत्रु दासा, दऊ सेंवारा	तत्र चतुर्दशा दो स्वरा :
दसे समाना	दस समाना
तेकू दूज्या वराणो, नसीस वरणो	तेषां द्वौ द्वान्योऽन्यस्य सवर्णो
पूरबो हसवा	पूर्वो ह्रस्व :
पारो दुग्गा	परोदीर्घ :
सारो वरणा, वंज्यो नामी,	स्वरो ऽ वर्ण वर्जो नामि
इकरादन मैं संत कराणी	एकारादीनि संध्यक्षराणि
(?)	नित्यं संध्यक्षराणि दीर्वाणि
कादीनाऊ, वंज्यो नामी	कादीनि व्यंजनानि
ते वरगा पंचा-पंचा	ते वर्गाः पंच-पंच,
वर्णानामी परतम दतब्यो, संखो सायचा	वर्गाणां प्रथम द्वितीयाः शषसाश्चा घोषाः
गोग पतोरणी	घोषवन्तोऽन्ये
आन ना सका, नन्या नू नामा	अनुनासिका ङ ञणनमा

---

१. देखिये कातन्त्र-रूपमाला व्याकरणम्, पृ० १।
२. सक्सेना—संस्कृत व्याकरण प्रवेशिका, पृ० १५।

उस्ताद रै लब्बा (अनना संता जेरे लवा)	अन्तस्था यरलवा
उकमन संखो साहा (रूक्मण संषो-साहा)	उष्माण : शपसहा
आयती विसर्जनीया (आयती विसार-जुनिया)	अ: इति विसर्जनीया
कायतो जिह्वामूलीया	≍क इति जिह्वामूलीय
पायती पदमानीया	≍प इत्युपध्मानीय
आयो-आयो रतन सवारो	अं इत्यनुस्वार

उपर्युक्त हाड़ौती 'सीदा' ध्वनि परिवर्तन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें ह्रस्व 'इ' का प्रयोग अहाड़ौती प्रभाव का द्योतक है। 'वंज्योनामी' 'व्यंजनानि' का विकृत रूप है, जो मूल से इतना दूर जा पड़ा है कि दोनों में किसी सम्बन्ध को स्थापित करना सहसा दुरूह है। कहीं-कहीं यह विकृति मूल से बहुत दूर तक नहीं पहुँची है, यथा—पूरबो हसवा—पूर्वो ह्रस्व : और पारोदुग्गा—परोदीर्घ।

लिपि

हाड़ौती लिपि देवनागरी लिपि से मिलती है। हां इसके कुछ अक्षरों की बनावट में देवनागरी लिपि से अन्तर मिलता है, यथा—हिन्दी के 'क' तथा 'ख' हाड़ौती में 'ડ' तथा 'प' रूप में मिलते हैं ડ गुजराती से मिलता है। इसी प्रकार 'ळ' की बनावट भी हिन्दी 'ल' से भिन्न है।

यह लिपि 'वाण्यांवाटी' के नाम से हाड़ौती क्षेत्र में अभिहित है। इसकी विशेषता यह होती है कि इसमें पहले एक आड़ी रेखा खींच दी जाती है और फिर उसके नीचे सहारे-सहारे अक्षर लिखे जाते हैं। इस लिपि में संयुक्ताक्षर प्रायः नहीं बनाये जाते, संयुक्ताक्षरता गोप्या, मोत्या आदि शब्दों में मिलती है, जिनको इस प्रकार लिखा जाता है—गोपJ, मोतJ। इस लिपि में ह्रस्व और दीर्घ मात्राओं के अन्तर की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है, पर प्रायः दीर्घ मात्राओं का ही प्रयोग मिलता है, मात्राओं के लिए 'कानामात' (कर्ण तथा मात्रा) शब्द प्रचलित है। इसको पढ़ने वाले प्रायः अटकल से इसे पढ़ पाते हैं, क्योंकि अनेक अवस्थाओं में तो 'कानामात' लगाये भी नहीं जाते। एक लकीर के सहारे अनेक अक्षरों को लिखे जाने के फलस्वरूप पढ़ने के लिए अभ्यास की अत्यन्त आवश्यकता होती है। इसका स्थान देवनागरी लिपि आजकल ग्रहण करती जा रही है। इस 'वाणूयांवाटी' या महाजनी लिपि के अक्षर 'मुडिया' कहलाते हैं। यह एक तरह शॉर्ट हैंड का काम देती है।

बालचन्द मोदी के अनुसार मोतीलाल मेनारिया[1] ने इन मुडिया अक्षरों के आविष्कर्ता मुगल सम्राट् अकबर के अर्थ-सचिव राजा टोडरमल को माना है। इसकी पुष्टि में टोडरमल का बनाया हुआ एक दोहा दिया गया है :

देवनागरी अति कठिन, स्वर व्यंजन व्यवहार।
ताते जग के हित सुगम, मुडिया कियो प्रचार।

परन्तु ओझाजी ने मोड़ी लिपि के सम्बन्ध में लिखा है—'इसकी उत्पत्ति के विषय में पूना की तरफ के कोई-कोई ब्राह्मण ऐसा प्रसिद्ध करते हैं कि हेमाउपंत अर्थात् प्रसिद्ध हेमाद्रि पंडित ने इसको लंका से लाकर महाराष्ट्र में प्रचलित किया। परन्तु इस कथन में कुछ भी सत्यता नहीं पाई जाती, क्योंकि प्रसिद्ध शिवाजी के पहले इसके प्रचार का कोई पता नहीं चलता। शिवाजी ने जब अपना राज्य स्थापित किया तब नागरी को अपने राज्य की लिपि बनाया। परन्तु उसके प्रत्येक अक्षर के ऊपर सिर की लकीर बनाने के कारण कुछ कम त्वरा से वह लिखी जाती थी, इसलिए उसको त्वरा से लिखी जाने के योग्य बनाने के विचार से शिवाजी के चिटनीस : मंत्री, सरिश्तेदार, बालाजी आवाजी ने इसके अक्षरों को मोड़-मोड़ (तोड़-मरोड़)-कर नई लिपि तैयार की, जिससे इसको 'मोड़ी' कहते हैं। पेशवाओं के सम्बन्ध में बिवलकर नामक पुरुष ने उसमें कुछ और फेरफार कर अक्षरों को अधिक गोलाई दी। यह लिपि सिर के स्थान में लम्बी लकीर खींचकर लिखी जाती है। इसमें 'इ' तथा 'ई' और 'उ' तथा 'ऊ' की मात्राओं में ह्रस्व-दीर्घ का भेद नहीं है और न हलंत व्यंजन है।[2]

हाड़ौती लिपि शैली की दृष्टि से मोड़ी लिपि से प्रभावित है, पर वर्णों की बनावट स्पष्ट रूप से नागरी और गुजराती से प्रभावित है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। कुछ हाड़ौती के वर्णों की बनावट गुजराती के अनुसार है। हाड़ौती के क, ख, भ, ल गुजराती के अनुसार ક, ખ, ભ, લ रूप में पाये जाते हैं। 'गुजराती का 'ख' तो प से बना है और 'ङ' तथा 'भ' जैन शैली की नागरी लिपि से लिये गये हैं।'[3] शेष हाड़ौती वर्ण नागरी लिपि में लिखे जाते हैं।

---

१. मेनारिया—राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० २०।
२. ओझाजी—भारतीय प्राचीन लिपि माला, पृ० १३१-३२।
३. वही, पृ० १३१।

हाड़ौती का क्षेत्र तथा उसका सीमावर्तिनी बोलियों से अंतर

हाड़ौती बोली ५,६२,०३४ व्यक्तियों द्वारा बोली जाती है।[1] डा० ग्रियर्सन के अनुसार 'हाड़ौती बूंदी तथा कोटा में बोली जानेवाली भाषा है जहाँ प्रमुख रूप से हाड़ा राजपूत बसे हुए हैं। यह समीपवर्ती ग्वालियर (छबड़ा) तथा झालावाड़ राज्यों में भी बोली जाती है।[2] आगे इसी का स्पष्टीकरण करते हुए एक-एक करके इन सभी राज्यों को लेकर उसका निश्चित स्थान निर्धारित करते हैं। उत्तर-पश्चिम राज्य के भाग को छोड़कर सारे बूंदी राज्य में, दक्षिणी-पूर्वी तथा दक्षिणी-पश्चिमी भूभाग को छोड़कर समस्त कोटा राज्य में; कोटा के सीमावर्ती शाहाबाद और छबड़ा परगना के मध्य में, तनिक कम शुद्ध रूप में सीपरी या श्योपुरी नाम से श्योपुर परगने में, टोंक के छबड़ा परगने में तथा झालावाड़ राज्य के उत्तर में स्थित पाटन परगना में हाड़ौती बोली जाती है।

डा० ग्रियर्सन को हाड़ा राजपूतों के कोटा तथा बूंदी में प्रमुख रूप से बसे होने का भ्रम हाड़ौती नामकरण से हो गया। वस्तुतः हाड़ा राजपूत यहाँ के शताब्दियों से शासक रहे हैं, न कि यहाँ के प्रमुख निवासी हैं।

डा० ग्रियर्सन ने जिस हाड़ौती के क्षेत्र का उल्लेख किया है उसमें सीपरी या श्योपुरी का क्षेत्र श्योपुर परगना नहीं हो सकता। श्योपुरी या सीपरी एक ऐसी बोली है जो हाड़ौती से भिन्न और बुन्देली के अधिक निकट है। शताब्दियों से श्योपुर परगने के राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक और धार्मिक संबंध पश्चिम-स्थित कोटा जिले से न होकर पूर्व-स्थित ग्वालियर राज्य या वर्तमान

---

१. सेंसस ऑफ इंडिया, १९६१ पृ० ८४।
२. लि० सं० इ०, पुस्तक ६, भाग २, पृ० २०२।

मध्य प्रदेश में रहे हैं। अतः श्योपुरी का विकास हाड़ौती से स्वतंत्र हुआ है। इसका अध्ययन हाड़ौती के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता।[1] दूसरी बात जो इससे भी महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि सन् १९६१ की जनगणना में सीपरी के संबंध में जो आँकड़े दिये गए हैं उनके अनुसार सीपरी-भाषी मध्य प्रदेश में कुल ४८७ व्यक्ति हैं जो मुरैना जिले में रहते हैं।[2] पर भारत में ऐसी अनेक बोलियाँ हैं, जिनके बोलने वालों की संख्या १-२ तक है।[3] इससे सीपरी का स्वतन्त्र बोली के रूप में अस्तित्व ही संदिग्ध हो जाता है। मुरैना जिले की कुल जनसंख्या ६,३३,५८१ है।

बूंदी जिले का अधिकांश भाग हाड़ौती-भाषी है। बूंदी तहसील के थोड़े-से उत्तरी भाग में खैराड़ी बोली जाती है। इन्द्रगढ़ और नैनवा के उत्तरी अर्धभाग क्रमशः खैराड़ी और नागरचालभाषी हैं। इनके दक्षिणी भागों में हाड़ौती बोली जाती है।

कोटा जिले की सभी तहसीलों में हाड़ौतीभाषी जनसंख्या की प्रमुखता नहीं है। शाहबाद तहसील में हाड़ौतीभाषी व्यक्ति अत्यल्प रहते हैं, अधिकांश ब्रजभाषी हैं। किशनगंज तहसील का पूर्वी भाग—भँवरगढ़ से पूर्व का भाग हाड़ौती क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आता। इसी प्रकार चेचट और रामगंजमंडी की तहसीलें भी अधिकांश में मालवी क्षेत्र के अन्तर्गत ही आती हैं। लाडपुरा, दीगोद, बड़ौद, इटावा, पीपल्दा, मांगरोल, अंता, बारा, अटरू, छीपाबड़ौद व कनवास और मनोहर थाना की तहसीलें प्रायः हाड़ौती भाषी हैं।

वर्तमान झालावाड़ जिले की केवल खानपुर तहसील पूर्णरूपेण हाड़ौती-भाषी है। अकलेरा तथा झालरापाटन तहसीलों के उत्तरी भाग हाड़ौती क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। असनावर, बकानी, मनोहर थाना तहसीलों के अधिकांश दक्षिणी भाग मालवी क्षेत्र के अन्तर्गत हैं और पिड़ावा, डग, गंगधार तथा पच पहाड़ तहसीलों में सोंदवाड़ी बोली जाती है।

इस सीमा-निर्धारण को तनिक अधिक स्पष्ट सीमास्थ गाँवों को संकेतित करके बनाया जा सकता है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि गाँव-विशेष तक ही हाड़ौती बोली की कोई सीमा है, उससे आगे-पीछे नहीं तथापि कुछ गाँव ऐसे होते हैं जहाँ एक बोली अपना अस्तित्व खोती-सी जान पड़ती है और दूसरी अपना अस्तित्व बनाती-सी प्रतीत होती है। अतः यहाँ सीमा-निर्धारण की दृष्टि से उन प्रमुख बड़े-बड़े गाँवों को दिया जा रहा है जो हाड़ौती की सीमा के

---

१. विशेष जानकारी के लिये देखिए—'हाड़ौती और सीपरी का अन्तर' इसी लेख में।
२. सेंसस ऑफ इण्डिया, १९६१ पृ० ८७
३. सेंसस ऑफ इण्डिया, १९६१, पृ० १४१ से १८३ तक।

निकटतम हैं और हाड़ौती प्रदेश में हैं।

हाड़ौती का उत्तर में प्रसार खातौली, इन्द्रगढ़, नैनवा तथा गोठड़ा ग्रामों तक है। पश्चिम में ऊमर, खीनिया व डाबी प्रमुख गाँव हैं। दक्षिणी सीमा झालावाड़, अनावर, अकलेरा और छवड़ा के समीप होकर गई हैं और पूर्वी सीमा छवड़ा, भंवरगढ़, पीपल्दा और खातौली से बनाई गई है। पूर्वोत्तर सीमा तो बहुत दूर तक पारवती नदी द्वारा भी बनाई जाती है। यह नदी हाड़ौती क्षेत्र को सीपरी क्षेत्र से पृथक् करती है।

हाड़ौती की सीमाएँ

हाड़ौती के उत्तर में नागरचाल और डाँगभांग बोली जाती है। उत्तर-पूर्व में सोपुरी या सीपरी मिलती है। पूर्व में बुन्देलखंडी और मालवी बोली जाती हैं। दक्षिण-पूर्व तथा दक्षिण में मालवी का प्रसार है। दक्षिण-पश्चिम में मालवी और सौंदवाड़ी पायी जाती है। पश्चिम में मालवी के अतिरिक्त मेवाड़ी मिलती है और उत्तर-पश्चिमी भाग मेवाड़ी तथा खेराड़ी-भाषी है।

हाड़ौती का सीमावर्त्तिनी बोलियों से अन्तर

यहाँ हाड़ौती का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए उसकी सीमावर्तिनी बोलियों से उसका अन्तर दिया जा रहा है।

मेवाड़ी और हाड़ौती का अन्तर—हाड़ौती क्षेत्र के पश्चिम में मेवाड़ी-भाषी प्रदेश है। मेवाड़ी सारे उदयपुर जिले के दक्षिण-पश्चिम तथा दक्षिणी भाग को छोड़कर जहाँ 'भीली' बोली जाती है, शेष समस्त जिले में बोली जाती है। इसके अतिरिक्त भी इस क्षेत्र के आस-पास के भागों में यह सरवाड़ी, खैराड़ी तथा मेरवाड़ी नाम से बोली जाती है। मेवाड़ी मारवाड़ी तथा जयपुरी का मिला हुआ रूप है। अतः इसमें मारवाड़ी और जयपुरी दोनों की विशेषताएँ मिलती हैं। मेवाड़ी तथा हाड़ौती में प्रमुख अन्तर ये हैं :

१. जिन शब्दों में हाड़ौती में आदि में 'स् या श्' मिलता है वहाँ मेवाड़ी में आदि में 'ह्' पाया जाता है; यथा—मे० हगला, हावू, हात, हुईग्यो, क्रमशः हा० सगला, सावू, सात, सोग्यो।

२. मेवाड़ी में 'व' का प्रयोग शब्द में सर्वत्र प्रचुरता से होता है। हाड़ौती में शब्द के आदि 'व', सर्वनामों तथा अन्य कतिपय शब्दों को छोड़कर प्रायः नहीं प्रयुक्त होता है और शब्दांत में भी 'व्' की अपेक्षा 'त्' का प्रयोग अधिक मिलता है; यथा—मे० वाट् भावा री क्रमशः हा० वाट आवा की।

३. जिन शब्दों में हिंदी में महाप्राण ध्वनि मिलती है हाड़ौती में तो उन्हें किसी-न-किसी प्रकार बनाए रखने की प्रवृत्ति है, पर मेवाड़ी के अनेक शब्द उसे

हो चुके हैं, यथा—मे० व्यो, वयो, रेवा, क्रमशः हा० होयो, खी, रैं'वा ।

४. मेवाड़ी में अन्य पुरुष सर्वनाम, संकेत-सूचक सर्वनाम, संबंधसूचक सर्वनाम तथा प्रश्नवाचक सर्वनाम शब्दों में 'णी, णां' ध्वनियाँ भी प्रायः सुनने में आती हैं । हाड़ौती में उक्त ध्वनियों का सर्वथा अभाव है । यथा—मे० उण, अणी, वणी, अण, अणी, इणी, जणा, जणी, कुण, कणी । हाड़ौती में इनके स्थान पर ऊ, वा, ई, यां, जीं, ज्यो, खीं, ख्यां के प्रयोग मिलते हैं ।

५. मेवाड़ी में कर्त्ता कारक का प्रयोग सामान्य भूतकाल के साथ परसर्ग रहित होने की प्रवृत्ति प्रायः दिखाई देती है जो जयपुरी से मिलती है, पर हाड़ौती में प्रायः 'नै' परसर्ग का प्रयोग दिखाई पड़ता है, यथा—मे० राजा क्यो, हा० राजा नै खी । मे० वणी राजा की आवमगत कीदी । हा० ऊनै राजा की आव-मगत करी ।

अन्यथा दोनों में इस प्रकार के प्रयोग भी मिल जाते हैं—मे० तीजी नै वही पूछ्यो और हा० म्हूँ ग्यो ।

६. मेवाड़ी में सम्बन्धकारक के परसर्ग रूप में 'रो', 'रा' प्रयोग संज्ञा शब्दों में भी मिलता है । हाड़ौती में ये परसर्ग केवल पुरुषवाचक सर्वनाम शब्दों के साथ दिखाई पड़ते हैं । मेवाड़ी में यह प्रवृत्ति मारवाड़ी से आई है । यथा—मे० राजा री बेटीरी हा० राजा की वेटी की । कहीं-कहीं पुरुषवाचक सर्वनामों के साथ जयपुरी के प्रभाव के फलस्वरूप 'ळो' का इसी विभक्ति में प्रयोग मिलता है जिसका हाड़ौती में सर्वथा अभाव है । यथा—मे० म्हाळो, थाळो क्रमशः हा० म्हारो, थारो ।

७. मेवाड़ी में अपादान तथा करण कारकों में 'हूँ' परसर्ग का प्रयोग मिलता है । हाड़ौती में 'सूं' या 'सैं' का; यथा—मे० हाय हूँ हा० हात सूं, मे० रूख हूँ हा० रूंख सूं ।

८. अस्तिवाचक क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ तथा भूत निश्चयार्थ के रूप हाड़ौती रूपों से भिन्न मिलते हैं, यथा—मे० है, हा, हा० छै, छा ।

९. कुछ क्रियाओं के भूत निश्चयार्थ के रूप मेवाड़ी में हाड़ौती से सर्वथा भिन्न होते हैं और इनका प्रयोग प्रायः मे० में देखने में आता है । यथा—मे० दी दो, लीदो, क्रमशः हा० द्यो, ल्यो, किन्तु ग्यो, उठ्यो आदि रूप दोनों में एक ही प्रकार से संपन्न होते हैं ।

१०. मेवाड़ी का भूत अपूर्ण निश्चयार्थ अस्तिवाचक सहायक क्रिया का भूत-निश्चयार्थ का रूप और वर्तमानकालिक कृदन्त के योग से संपन्न होता है । हाड़ौती का यह रूप अस्तिवाचक सहायक क्रिया के भूत निश्चयार्थ तथा मूल क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ के योग से बनता है । यथा—मे० रेती ही, हा० रैवै छी, मे० करता हा, हा० करै छो ।

११. मेवाड़ी के पूर्वकालिक रूप धातु रूप के 'ईने' प्रत्यय लगाकर प्रायः बनाए जाते हैं। हाड़ौती में ऐसे रूपों से 'र' का प्रयोग मिलता है, यथा—मे० जाईने, खाईने, हा० जार, खार।

डा० ग्रियर्सन मेवाड़ी की पूर्वकालिक क्रिया का अंत 'ओर' के स्थान पर 'हर' से बताते हैं।[1] पर यह रूप आदर्श मेवाड़ी में नहीं पाया जाता। हाँ, सीमास्थ प्रदेशों में यह मिलता है।

१२. मेवाड़ी में पूर्ण भूत अपूर्ण भूत का अर्थ भी बतलाते हैं। यथा—खावा हा, छावा हा।[2]

१३. क्रियार्थक संज्ञाओं के रूप राजस्थान में दो प्रकार के मिलते हैं। १. धातु में णो, णू जोड़कर, २. धातु में बो, बू जोड़कर। मेवाड़ी में प्रथम प्रकार के रूपों का प्रयोग प्रायः सुना जाता है और हाड़ौती में दूसरा प्रकार प्रायः प्रयुक्त होता है, यथा—मे० करणो, हा० करबो।

१४. मेवाड़ी में संयुक्त क्रियाओं के रूप हा० से भिन्न प्रकार से बनते हैं। *यथा—मे० लेईग्यो, आईग्यो, चाल सकूं, क्रमशः हा० लेग्यो, आग्यो, चाल सकूं।* मेवाड़ी में दोनों क्रियाओं के बीच 'ई' की संस्थिति है।

१५. मेवाड़ी में 'वणीरीज', 'म्हारीज' जैसे शब्दों में 'ज' का प्रत्यय रूप में प्रयोग संस्कृत 'एव' के अर्थ में मिलता है। हिन्दी में ऐसे शब्द के अर्थ होंगे 'उसकी ही' तथा 'मेरी ही'। हाड़ौती में इस प्रकार का प्रयोग नहीं मिलता।

नीचे पहले एक श्रुत लेख दिया जाता है, जिसके वक्ता उदयपुर निवासी एक प्राध्यापक हैं। दूसरा गद्य ग्रियर्सन के 'भारतीय भाषा सर्वेक्षण' से उद्धृत है।

१. मेवाड़ी गद्य

एक डोकरी ही। वा एक गाँव मैं रैती ही। वणी गाँव में एक नार रोज आवतो हो। एक दन गाँव वाळा होच्यो कै डूंगरां मैं जाईने कांटा ल्यावां। गाँव वाला डोकरी पाखी पोंच्या। डोकरी बोली कै म्हूँ तो चाली नी सकूं। थां डूंगरी पै जावा नै किस्तर को? गाँव वाला क्यो कै थू थारो बंदोबस्त थूईज करली जै। यो कई नै गाँव वाला चल्या गया।

हाड़ौती गद्यानुवाद

एक डोकरी छी। वा एक गाँव में रेवै छी। ऊं गाँव में एक न्हार रोजीनै आवै छो। एक दन गाँव हाळा नै वच्यारी कै डूँगर मैं जार कांटा लावाँ। गाँव

---

१. लि० स० ई०, पुस्तक ६, भा० २, पृ० ७८।
२. वही, भा० २, पृ० ७८।

हाळा डोकरी कै गोडै वी ग्या। डोकरी नै खी कै म्हूँ तो न चाल सकूं। थां डंगर मैं कस्यां जावैगा। गाँव हाळा नै खी कै थूईथारो अंतज्याम कर लीजै। या खैर गाँव हाळा चल्या गया।

२. मेवाड़ी गद्य[1]

कुणी मनख कै दोय बेटा हा। वामां हूँ ल्होड़क्यो आपका वाप नै कह्यो है, वाप पूँजी मां हूँ जो म्हारी पाँती होवै म्हने द्यो। जद वां नै आपकी पूँजी बाँट दी दी। थोड़ा दन नहीं हुया हा कै ल्होड़क्यो बैटो सगळो घन भेलो करहर परदेस परोगयो अर उठै लुच्यापण मां दन गमावता हुवां आपको सगळो धन उड़ाय दीदो। जद ऊ सगळो धन उड़ा चुक्यो तद वी देस माँ भारी काल पड़्यो अर ऊ टोटायलो हो गयो।

हाड़ौती गद्यानुवाद

एक मनख के दो वेटा छा। वा मैं सूं छोटानै आवण वाप सूं खी। हे भाई जी, पूँजी मैं सूं ज्यो म्हारी पांती होवै वा मई दे दो। जद वानै वांई आपणी पूँजी बाँट दी। थोड़ा सा दनां पाछै छोटो वेटो सारो घन एक्ठो कर परदेस चल्यो ग्यो। अर वहाँ लुच्यापण मैं दन बतावा लाग्यो अर आपणी सारी पूँजी उड़ादी। जद ऊं नै सारो धन उड़ा द्यो तो ऊं देस मैं भारी काळ पड़्यो अर ऊ द्वाळ्यो हो ग्यो।

सोंदवाड़ी और हाड़ौती का अन्तर

सोंदवाड़ी हाड़ौती क्षेत्र के दक्षिण में बोली जाती है। यह दक्षिणी झालावाड़ जिला तथा उसके निकटवर्ती मध्य प्रदेश के क्षेत्रों में बोली जाती है। यह सोंदियों की बोली है जो यहाँ की प्रमुख जंगली जाति है। डा० ग्रियर्सन ने अपने 'भारत के भाषा-सर्वेक्षण' में इसे मालवी भाषा की बोली स्वीकार किया है[2] व उसी के अन्तर्गत रखा है। सोंदवाड़ीभाषी जनसंख्या ५९,४३३ है।[3] इस बोली में कतिपय ऐसी विशेषताएँ मिलती हैं जो भीली बोलियों में मिलती हैं।

नीचे हाड़ौती और सोंदवाड़ी का अन्तर दिया जा रहा है—

१. सोंदवाड़ी में हाड़ौती बोली के शब्द के आदि में पाये जाने वाले 'स' तथा 'श' 'ह' में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार हा० साळा, सुण, सगळो,

---

१. लि० सं० इ०, पुस्तक ६, भा० २, पृ० ७६।
२. वही, पृ० २७८।
३. सेंसस आफ इंडिया १९६१, पृ० ८७।

सोग्यो सोंद० क्रमशः हाळा, हुण, हगळो, होईग्यो रूप में मिलते हैं जिनके क्रमशः अर्थ हैं साला, सुन, समस्त तथा सो गया। दूसरी ओर सोंदवाड़ी में हाड़ौती ख का उच्चारण 'छ'-वत् होता है, यथा—सोंद० सुक्ळा, हा० छुक्ळा।

२. सोंदवाड़ी में ह्रस्व 'इ' ध्वनि सुनाई पड़ती है जो हा० में नहीं मिलती है, यथा—सोंद० कितरूँ, वाळदियाँ, मिले, दिना क्रमशः हा० कस्यां, बैल, मलै, दन।

३. सोंदवाड़ी में हाड़ौती की अपेक्षा दन्त्य 'न' के मूर्धन्यीकरण की प्रवृत्ति अधिक दीख पड़ती है, यथा—सोंद० दण, मण, होणा, दोण्यू क्रमशः हा० दन, मन, सूना, दोन्यू।

४. सोंदवाड़ी में मालवी महाप्राण ध्वनि प्राय लुप्त हो जाती है[1] पर वह हाड़ौती में मिलती है। यथा—सोंद० लोडो (मा० ल्होड़ी), ती (मा० थी), दीदो (मा० दीधो), जो हा० में क्रमशः ल्होड़क्यो, थां तथा द्यो रूप में मिलते हैं।

५. सोंद० में शब्द के आदि में 'व्' के प्रायः मिलने के उदाहरण मिलते हैं। यथा—सोंद० वोर, वच्यार, वांट, वणां, वर, हाड़ौती में आदि 'व' के उदाहरण अत्यल्प हैं—दो-चार हैं, उपर्युक्त शब्दों का हाड़ौतीकरण होगा—अर, बच्यार, बांट, ऊ, छोको।

६. सोंदवाड़ी में अन्य पुरुप तथा मध्यम पुरुप के सर्वनाम हाड़ौती से भिन्न होते हैं। यथा—सोंद० वणा, वी, थी, थे, क्रमशः हा० हा, ऊ, वे, तू तथा थां।

७. सोंद० में अस्तिवाचक क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ तथा भूत-निश्चयार्थ के रूप क्रमशः हैं, है तथा हो, थो, जो हा० में क्रमशः छै तथा छो रूप में पाए जाते हैं।

८. सोंद० में अपूर्ण भूत की क्रियाओं का निर्माण हिन्दी के समान भी होता है और हाड़ौती के समान भी। अतः उस क्षेत्र में दोनों प्रकार के रूप प्रचलित हैं, यथा—मूं खातो थो और मूं खावै थो।

९. सोंद० भूत निश्चयार्थ की क्रियाएँ हाड़ौती के समान 'यो' लगाकर बनाने के अतिरिक्त एक अन्य रूप में मिलती हैं, यथा—सोंद०, दीदो, दीदो, खादो, जो क्रमशः हा० में ल्यो, द्यो, खायो रूप मे पायी जाती हैं। इन्हीं के लियो, दियो तथा खायो रूप भी सोंद० में प्रायः सुनने में आते हैं।

१०. सोंद० में पूर्वकालिक क्रिया का निर्माण मालवी के समान भी होता है। उसमें खाई के, मांज के तथा उठी के और खाई ने, मांजी ने तथा उठी ने रूप प्रचलित हैं। हाड़ौती में इनके स्थान पर क्रमशः खार, मांजर और खाकै, मांजकै, उठ कै, रूप प्रचलित हैं।

---

१. लि० स० इ०, पु० ६, भा० २, पृ० २७८।

११. सोंदवाड़ी में संयुक्त क्रियाओं के निर्माण में दोनों क्रियाओं के मध्य में 'ई' ध्वनि का प्राय: आ जाना इस बोली की विशेषता है। यथा—सोंद० आईगी, होईग्यो, लेईचाल्या, लागीग्यो, दईदे, खोवाईग्यो थो क्रमश: हा० आगी, होग्यो, लेचाल्या, लागग्यो, दै दै, गमग्यो छो।

सोंदवाड़ी में 'ई' ध्वनि तो क्रियार्थक संज्ञा के मध्य में भी मिलती है, यथा—कईवो, जाईवो, खाईवो जो क्रमश: हिन्दी के कहना, जाना, खाना के अर्थ को प्रकट करते हैं। हा० में इनके स्थान पर खैवो, जावो, खावो शब्द प्रयुक्त होते हैं।

१२. सोंदवाड़ी की प्रेरणार्थक क्रियाओं के रूप भी हाड़ौती से भिन्न ही मिलते हैं, यथा—सोंद० खावाड़ी, हा० खवाई।

१३. सोंदवाड़ी क्रियाओं के साथ 'ज' का प्रयोग अद्‌भुत-सा मिलता है, जो हाड़ौती में नहीं मिलता, यथा—सोंद० पूछेज, हा पूचै।

१४. सोंदवाड़ी में समुच्चय बोधक अव्यय के रूप में 'अर', 'वोर' तथा 'ने' का प्रयोग होता है। हा० में 'केवल', 'अर' तथा 'वोर' प्रचलित हैं, 'ने' का प्रयोग सोंद० में गुजराती के प्रभावस्वरूप आया प्रतीत होता है।

१५. सोंदवाड़ी के स्थानवाचक क्रियाविशेषण शब्द हाड़ौती से भिन्न हैं तथा बड़े आकर्षक हैं। यथा—सोंद० अयांड़ी, कंयांड़ी, वयांड़ी, अनांग, उनांग क्रमश: हा० अंठी, खटी, उठी, यां, वां। इनके अतिरिक्त सोंद० अठै, उठै रूप भी सुन पड़ते हैं।

१६. सोंद० का शब्दकोश भी आकर्षक शब्दों से युक्त है। यथा—कितरुं (कैसे), अनांग (यहां), उनांग (वहाँ), कंयांड़ी (कहाँ), जी (पिता), वार (वर्ष), रोठी (रोटी) आदि। ये शब्द हाड़ौती प्रदेश में नहीं सुनाई पड़ते।

नीचे दो सोंदवाड़ी गद्य-खंड हाड़ौती अनुवाद सहित दिए जा रहे हैं—

एक आदमी के दो वेटा था। लोड़का वेटा ने वणी का जी है कही के माने वांटा की रुकम-पात दई दो। ऊदी वणी का जी ने अपनी रुकम पात वपया है वांट दी। थोड़ा दिना पाछे लोडो वेटो वणी का वांटा की रकम-पात लई वेगळो चल्यो गयो। वाहा वणी ने वणी का वांटा की हगली रकम पात वींगाड दी दी। अर वणी के पां काई नहीं रयो। और वणी मूलक में काळ पड्यो। जदी भूकां मरवा लाग्यो। जदी वणी मूलक का एक हाऊ आदमी पां गयो अर वणी हाऊ आदमी ने भंडूरा चरावा माल में मोकल्यो। ऊ लाचार वई ने वणी सूकळा थी पेट भरे थो, जो सूकळो भंडूरा के खावा को थो। वणी ने खावा कोई नहीं देवे थो। जंदी वणी ने गम पड़ी जंदी केवा लाग्यो के मारा जी के घणा हाळ वाळदी है।

हाड़ौती गद्य

एक आदमी कै दो बेटा छा, लोड़क्या बेटा ने उंका भाई जी सूं खी कै मंहई म्हारा बांटा की रुकम पात दे दो। जद ऊंका भाई जी नै आपणी रकम-पात वां मैं बांट दी। थोड़ा दना पाछै ल्होड़क्यो बेटो ऊंका बांटा की रकम पात लेर दूरै चलीग्यो। वां ऊनै ऊंकी पांती की सारी रकम-पात बगाड़ दी। अर ऊंकै नकै कोई कोईनै र्‌यो। अर ऊं मलक में काळ पड्यो। जद भूकां मरवा लाग्यो। जद ऊं गाँव का एक भला आदमी कै वनै गयो। अर ऊं भला आदमी नै टांडा चरावा माळ मै खंदायो। ऊ लाचार होर ऊं चारा सूं देट भरै छो ज्यो चारो ढांडा कै खावा को छौ। उई कोई भी खावा न देवै छो। जद ऊनै गम पड़ी जद खैवा लाग्यो के म्हारा भाई जी के घणा वैलांका हाली छै।

- -यह दूसरा गद्यांश पिड़ावा निवासी से श्रुत लेख है—

सोंदवाड़ी गद्य

दो ठग था वोर एक से एक जवरो थो। एक दन एक ठग के घरे दूजो ठग पावणू गयो। ऊण ने उण की हाऊ हार हमाळ करी वोर होणा की परात में रावड़ी खावाड़ी। पावणां ठग के परात आसे आईगी। उण के आपणा मण में बच्यार् कर्‌यो के हाला की या परात छाना सा लेई चालां। वेरां छाती रावड़ी खाईके आपणी परात राखोड़ी से मांज के आल्या में रख काड़ी। वोर दोण्यांई चंवरा में वईग्या वोर चलम पीवा ने लागी ग्या। डावी चलम वखे मेल के होईग्यो। पावणां ठगने उठी के दूसरा ठग ने हमाल्यो वोर कईवा लाग्यो के हाळा को हाऊ तरां से होईग्यो।

हाड़ौती गद्यानुवाद

दो ठग छा अर एक सै एक जबरो छो। एक दन एक ठग कै घरणै दूजो ठग पावणू ग्यो। ऊंनै ऊंकी घणी आवोभगत करी अर सूना की परात में रावड़ी ख्वाई। पावणां ठग कै परात आसै आगी। उनै आपणा मन मै वचार कर्‌योक साला की या परात छानै सेक ले चालां। वैळा छती रावड़ी खार आपणी परात वानी से मांजर आल्या मैं मैल दी। अर दोन्यू चूंतरा पै वैठग्या। अर चलम पीवा लाग्‌ग्या। डावी अर चलम ठाम ठकाणै में मैलर सोग्या। फावणा ठग नै उठर दूसरा ठगीं संभाळयो अर खैवा लाग्यो कं साळो छोकी तणां सूं सोग्यो।

मालवी तथा हाड़ौती का अन्तर

हाड़ौती प्रदेश की दक्षिणी तथा दक्षिणी-पूर्वी सीमाएँ मालवी बोली से बनाई जाती हैं। डा० ग्रियर्सन ने मालवी को राजस्थानी भाषा की उपशाखा की एक

बोली स्वीकार करके उस पर मारवाड़ी जयपुरी, हाड़ौती-आदि के साथ विचार किया है।[1] डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने ग्रियर्सन के राजस्थानी बोलियों के वर्गीकरण के पाँच भेदों में से केवल दो—पश्चिमी राजस्थानी तथा मध्यपूर्वी राजस्थानी—को ही 'राजस्थानी' नाम देना उपयुक्त ठहराया और इन्हें क्रमशः पश्चिमी तथा पूर्वी राजस्थानी कहना उपयुक्त समझा।[2] शेष अहीरवाटी, मेवाती मालवी और निमाड़ी ये पछाँही हिंदी से ज्यादातर संपर्कित हैं या खास राजस्थानी से इस पर चरम निष्कर्ष अब तक नहीं निकला है।[3] अतः यह स्पष्ट है कि डा० चटर्जी मालवी को राजस्थानी की[4] बोलियों के अन्तर्गत रखने को तैयार नहीं हैं। वे समग्र राजपूताना और मालवा की बोलियों को एक मूल भाषा ही नहीं मानते।[5] डॉ० श्याम परमार के अनुसार मालवी का विकास शौरसेनी, प्राकृत और अवंती अपभ्रंश से हुआ है। अतः इतना स्पस्ट है कि मालवी हाड़ौती की सीमावर्तिनी बोली होकर भी इस प्रकार विकसित हुई कि परस्पर काफी अन्तर रखती है। मालवी भाषी जनसंख्या ११,४२,४७८ है।[6] नीचे दोनों के अन्तर को स्पष्ट किया जा रहा है :

१. हाड़ौती में लघु 'इ' का उच्चारण स्वतन्त्र स्वर अथवा मात्रा किसी भी रूप में नहीं मिलता जबकि मालवी में यह स्वर दोनों रूपों में विद्यमान है। मालवी के शब्द हिस्सो, दियो, मिले हा० में हस्सो, द्यो, मलै रूप में उच्चरित होते हैं।

२. हाड़ौती में शब्द के आदि 'व्' का उच्चारण प्रायः नहीं मिलता, वह प्रायः 'ब्' में परिवर्तित हो जाता है, जबकि मालवी में आदि 'व्' के उदाहरण मिल जाते हैं। यथा—वात, वैठ, विचार आदि। हाड़ौती में आदि में 'व्' केवल कुछ शब्दों में—वाने (उनके), व्हां (वहाँ), वाँर (विलंब) आदि में दीख पड़ता है।

शब्द के मध्य में पायी जाने वाली मालवी 'व्' ध्वनि की हाड़ौती में 'ब्' की ओर झुकने का प्रयास करती है, यथा—मे० मनावा, चरावा क्रमशः हा० मनावा, चरावा।

३. हाड़ौती में महाप्राण ध्वनियाँ अपना अस्तित्व किसी-न-किसी रूप में

---

१. लि० स० इ०, पु० ६, भा० २, पृ० ५२।
२. चटर्जी, राजस्थानी भाषा, पृ० १०।
३. वही, पृ० ७८।
४. चटर्जी, राजस्थानी भाषा, पृ० ७८।
५. मालवी और उसका साहित्य, पृ० ११।
६. सेंसस आफ इण्डिया, १९६१, पृ० ८५।

बनाए हुए हैं और उनकी प्रवृत्ति शब्द के आदि की ओर बढ़ने की देखी जाती है। जहाँ वह ध्वनि आदि तक नहीं पहुँच पाई वहाँ मध्य में कंठनालीय स्पृष्ट ध्वनि सुनाई देती है, यथा—रेवो (रहना), से' र (शहर), जो'द (योद्धा), वैं'ण (बहिन)। मालवी में ये महाप्राण ध्वनियाँ अनेक शब्दों में लुप्त हो गई हैं, यथा— मा० काडो, अडाई, दूद क्रमशः हा० खाडो, ढाई, दू' द।

४. मालवी में प्रायः 'ई' ध्वनि सुनने में आती है जो हाड़ौती में इतनी प्रचुरता से नहीं मिलती। मा० गया थानी हा० ग्या छा नैं, मा० करी दियो हा० कर द्यो, मा० उड़ाई दियो हा० उड़ा दयो।

५. आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में जो शब्दसंकोच की प्रवृत्ति देखी जाती है उस दिशा में हाड़ौती मालवी से आगे है जिसे क्रिया के भूत कृदंत में स्पष्ट देखा जा सकता है। यथा— मा० गयो, कयो, दियो, दई दो, क्रमशः हा० ग्यो, ख्यो, द्यो, दे दो।

६. मालवी में कर्मकारक तथा संप्रदान में विभक्ति पायी जाती है, जबकि हाड़ौती में उसके लिए परसर्ग मिलते हैं। मा० छोटा लड़काए बणी का पिता ने कह्यो (छोटे लड़के से उसके पिता ने कहा), वी ने बणीएँ नी दिया (उसने उसको नहीं दिया)। हाड़ौती में इन्हीं वाक्यों को क्रमशः इस प्रकार लिखेंगे— छोटक्या छोरा से ऊंका बाप नैं ख्यी, 'ऊं ने ऊंई न द्यो।' यह प्रयोग 'राँगड़ी' में अधिक देखने को मिलता है।

इसी प्रकार मालवी सप्तमी में 'घरे' जैसे प्रयोग भी देखने को मिलते हैं, जो सं० सप्तमी 'गृहे' से संबंध स्थापित किए हुए है। हाड़ौती में 'घरणैं' में 'णैं' परसर्ग इसी प्रकार की भ्रांति उत्पन्न करता है, पर हाड़ौती में यह परसर्ग अपना स्वतंत्र अस्तित्व बना चुका है।

षष्ठी का 'पितारे घरे' मालवी का रूप मारवाड़ी, बंगला की याद दिलाता है। हाड़ौती में 'रे, रा' की संयोगावस्था केवल सर्वनामों में देखी जा सकती है; संज्ञाओं के साथ 'रे, रा' के प्रयोग नहीं दिखाई पड़ते। मालवी के 'बाप रे घरे' के स्थान पर हा० में 'बाप का घरणैं' प्रयुक्त होगा।

७. मालवी बोली में वीने, अणा ने आदि निश्चयवाचक सर्वनाम हाड़ौती ऊने, ईनै रूप में प्रयुक्त होते हैं। ये प्रयोग राँगड़ी में अधिक देखने को मिलते हैं। मालवी में कहीं-कहीं मूर्धन्य अनुनासिक हाड़ौती ध्वनि 'ण' के स्थान पर दंत्य अनुनासिक ध्वनि के प्रयोग भी देखने को मिलते हैं।

८. अस्तिवाचक क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ तथा भूत निश्चयार्थ रूपों में दोनों बोलियों में स्पष्ट अंतर है। मालवी में ये क्रमशः है, हू तथा था, थी मिलते हैं, जबकि हाड़ौती में ये रूप क्रमशः छैं, छूँ तथा छा, छो रूप में प्रयुक्त होते हैं।

९. मालवी में भूत अपूर्ण निश्चयार्थ मूल क्रिया के वर्तमानकालिक कृदंत में

अस्तिवाचक सहायक क्रिया का भूत निश्चयार्थ रूप जोड़कर बनाया जाता है, जब कि हाड़ौती में इस रूप को वर्तमान निश्चयार्थ क्रिया के साथ अस्तिवाचक क्रिया के भूतकालिक रूप को सहायक क्रिया रूप में जोड़कर बनाया जाता है। यथा— मा० जाती थी, हा० जावै छो, मा० खाती थी, हा० खावै छो।

१०. मालवी में भविष्य निश्चयार्थ वर्तमान निश्चयार्थ क्रिया के साथ 'गा' जोड़कर बनाया जाता है, जो मारवाड़ी के समान वचन तथा लिंग में नहीं परिवर्तित होता।[1] हाड़ौती क्रिया में भविष्यत् निश्चयार्थ का निर्माण भी इसी प्रकार होता है, पर यहाँ क्रिया लिंग-वचन के अनुसार परिवर्तित होती रहती है; यथा, म्हूँ जाऊँगा, वै जावैगा, थू जावैगो।

११. पूर्वकालिक क्रिया का निर्माण मालवी में हाड़ौती से भिन्न प्रकार से होता है। मालवी के जाय, हुइ, वांची रूप हाड़ौती के जार, हार, वाँचर रूपों से स्पष्टतया भिन्न हैं।

१२. मालवी में भूतकालिक कृदंत के लीधो, दीधो, किधो रूप बड़े आकर्षक हैं, जो हाड़ौती में नहीं मिलते। गुजराती तथा मेवाड़ी में भी इसी प्रकार के रूप देखने को मिलते हैं। पर यह भूतकालिक रूप बहुत कम क्रियाओं तक सीमित हैं अन्यथा तो कियो, दियो तथा कभी-कभी ग्यो, द्यो आदि रूप ही, जो हाड़ौती के समान हैं, प्रचलित हैं।

१३. मालवी के समुच्चयबोधक अव्यय 'ने' पर गुजराती का प्रभाव है। वह गुजराती के 'अने' का घिसा हुआ रूप है। हाड़ौती में इसके स्थान पर 'अर' का प्रयोग होता है जो हिंदी के 'और' का घिसा रूप-सा प्रतीत होता है।

नीचे दो मालवी गद्य तथा उन्हीं के हाड़ौती रूपांतर प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

१. मालवी गद्य

कोई आदमी के दो छोरा था। उनमें से छोटा छोरा ने जई के बाप के कियो के दाय जी म्हारे धन को हिस्सो दईदो और ओने उनमें माल ताल को वाँटो करी दियो। थोड़ाई दन में छोटो छोरो सब अपनो माल मतो लई ने कोई दूसरा देस चल्यो ग्यो और वां आखोचैन-मौज में अपनी धन उड़ाई दयो।[2]

हाड़ौती-गद्यानुवाद

कोई आदमी के दो छोरा छा। वां मै सै छोटा छोरा नै जार बाप सै खी कै भाई जी मंई धन को वाँटो दे दो अर ऊनै वांमैं मालताल को वाँटो कर दयो।

---

१. लि० स० इ०, पु० ६, भा० २, पृ० ५२।
२. डॉ० श्याम परमार : मालवी और उसका साहित्य, पृ० १५

छणी स्याक दनां में छोटो छोरो सैंदो आपणू मालताल लेर कस्यापरदेस में चली ग्यो अर वाँ चैन-मौज में आखो धन उडा द्यो।

२. मालवी गद्य

एक अन्य उदाहरण आदर्श मालवी का दिया जा रहा है :

'काल' कुवार सुदी पाँच का दन आपकी चिट्ठी म्हारे मिली। वाँची ने गद्-गद् हुई ग्यो ने जदे मालूम पड़ी कि अरे योतो कवि संमेलन को नेवतो है। अबे क्यों म्हार से केवाडो आँदा के जाणे आँख मिली न मय्या पर-कट्या पंछी खे पाँख मिली।[1]

हाड़ौती गद्यानुवाद

काल आसोज सुद पाचैं कै दन आपकी छूंती मँई मली। वांच र गद गद होयो। अर जद मालूम पड़ी कँ यो तो कवि संमेलन को नोतो छै अब म्हंसै क्यूं ख्वावो छो माया, जाणैं आंदाई आंख्या मलगी अर पांखडाहीण पंछी ई पांखडा मल ग्या।

बुन्देली तथा हाड़ौती का अन्तर

बुंदेली बोली हाड़ौती की उत्तर-पूर्वी सीमा बनाती है। यह पश्चिमी हिन्दी की उपभाषा है। बुंदेले राजपूतों की प्रधानता के कारण ही इस प्रदेश का नाम बुंदेलखण्ड पड़ा तथा इसकी भाषा बुंदेली कहलाई। इस बोली का क्षेत्र बुंदेलखंड है। कहीं-कहीं वह इस क्षेत्र के बाहर भी बोली जाती है।[2] बुंदेली क्षेत्र विस्तृत है। इस क्षेत्र में बुंदेली की अनेक बोलियाँ प्रचलित हैं। इसके बोलनेवालों की संख्या २२०६५ है।[3] नीचे जो हाड़ौती और बुंदेली का अन्तर बताया जा रहा है उसमें आदर्श बुंदेली को ही आधार मानकर चला गया है।

१. बुंदेली में ह्रस्व 'इ' ध्वनि प्रचुरता से प्रयुक्त होती है जो हाड़ौती में नहीं मिलती; यथा—बुं० बिटिया, बिरोबर, चिरइया, भानिज क्रमशः हा० बेटी, बर्याबर, चड़ी, भाणेज।

२. बुंदेली में मूर्धन्य अनुनासिक व्यंजन ध्वनि नहीं मिलती। वहाँ इसके स्थान पर दन्त्य अनुनासिक ध्वनि का प्रयोग मिलता है। बुं० भानिज, अपनी, तेलनी, क्रमशः हा० भाणेज, आपणो, तेलण।

३. हाड़ौती की 'ड़' ध्वनि बुंदेलखंडी में प्रायः 'र' में परिवर्तित हो जाती है। यथा—हा० घोड़ो, दोड़र, पड़यो, क्रमशः बुं० घुरवा, दौरके, परो।

१. डॉ० श्याम परमार : मालवी और उसका साहित्य, पृ० १०२।
२. लि० भो० भा० सा०, उपोद्घात, पृ० १३१।
३. सेन्सस आफ इंडिया, १९६१, पृ० ३६।

४. अकारण अनुनासिकता के उदाहरण बुंदेली में हाड़ौती की अपेक्षा अधिक मिलते हैं। यथा—बुं० एतरां, उठाकें, नेचें, पाकें (हिं० इस तरह, उठाकर, नीचे, पाकर)।

५. बुंदेली में शब्दों के बहुवचन बनाने के लिए ब्रजभाषा की भांति-'अन' प्रत्यय लगाया जाता है। हाड़ौती में इसका प्रयोग नहीं मिलता। यथा—बुं० घोरन, लरकन, क्रमशः हा० घोड़ा, छोरा (लड़का)।

६. बुंदेली के पुरुषवाचक सर्वनामों के रूप हिन्दी के अधिक निकट हैं, पर हाड़ौती से कुछ दूर हैं।

	बुंदेली	हाड़ौती
उत्तमपुरुष	में, मैं, हम	म्हूं, म्हां, मै
मध्यमपुरुष	तू, तैं, तुम	तू, थां, तै
अन्यपुरुष	वो, ऊं, वै	ऊ, वै

७. बुंदेली में कभी-कभी कर्ता के साथ 'ने' परसर्ग का प्रयोग एक विचित्र ढंग से होता है; यथा—वाने बैठो (वह बैठा), ऐसा प्रयोग हाड़ौती में नहीं मिलता। इसके स्थान पर हाड़ौती में कहेंगे—'ऊ बैठ्यो'।

८. बुंदेली में कर्मकारक का 'खो' परसर्ग हाड़ौती में नहीं मिलता। सम्बन्धकारक के उत्तमपुरुष तथा मध्यमपुरुष के भी रूप मोको, मोरो, मोनो, हमको, हमाओ तथा तोको, तेरो, तोरी, तोनो, तुमको, तुमाओ रूप बड़े आकर्षक हैं तथा हिन्दी से स्पष्टतः भिन्न हैं। हाड़ौती में म्हारो, म्हांको तथा थारो, थांको इनके समकक्ष रूप हैं।

९. बुंदेली में अस्तिवाचक क्रिया अपने वर्तमान निश्चयार्थ तथा भूत निश्चयार्थ रूपों में हाड़ौती से स्पष्ट भिन्नता रखती है। बुं० के वर्तमान निश्चयार्थ के रूप हैं, आय तथा भूत के हतो, जो हा० में क्रमशः छै, छो रूप में मिलते हैं।

१०. बुंदेली के सामान्य भविष्यत् काल के रूप हे, हो जोड़कर भी बनाए जाते हैं; यथा—बुं० मारिहो, मारिहै, चलिहै आदि। ये रूप हा० में नहीं मिलते। भविष्यकाल के दूसरे रूप दोनों में समान ढंग से बनाए जाते हैं।

१२. बुंदेली में वर्तमान अपूर्ण निश्चयार्थ मूल क्रिया के वर्तमानकालिक कृदन्त तथा अस्तिवाचक क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ के योग से सम्पन्न होता है जबकि हाड़ौती में मुख्य क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ तथा अस्तिवाचक क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ के रूप से बनता है; यथा—बुं० मारत हों, हा० मारूँ छूं।

१२. बुंदेली में भूत अपूर्ण निश्चयार्थ का निर्माण वर्तमानकालिक कृदन्त तथा अस्तिवाचक क्रिया का भूत निश्चयार्थ रूप के योग से होता है जबकि हाड़ौती में यह मूल क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ तथा अस्तिवाचक क्रिया के भूत

निश्चयार्थ के रूपों को जोड़कर बनाए जाते हैं। यथा—बुं० मारत हतो, हा० मारै छो।

१३. बुंदेली पूर्वकालिक क्रिया का अन्त प्रायः 'के' से होता है जबकि हाड़ौती क्रिया का अंत प्रायः 'र' में होता है और कभी-कभी 'कै' में भी होता है यथा—बुं० मारके, उठके, हा० मारर या मारकै, उठर या उठकै।

नीचे बुंदेली गद्य दिए जा रहे हैं। इनमें से प्रथम गद्य शिवसहाय की 'जल-कन्या' बुंदेली लोककथा से उद्धृत है।

बुंदेली गद्य[1]

एक समय की बात है। कौन ऊ नगर में एक राजा हतो। ऊंके राज में रैयत के लोग पेट भर खात और नींद भर सोउत हते। कोउ खों काऊ बात की अड़चन ने हती।

ओई शहर में राजा के महल के लिंगा एक जसोंदी की टपरिया हती। ऊके घर में मताई-बेटा दोई प्रानी हते। बेटा स्यानो हो गव तो जसोंदी तो आय उए गावै-बजावै को बड़ो शोक हतो। जब मनमें हुलास उठे तब ई सारंगी उठाकै गाउन-बजाउन लगत तो। राजा साब जसोंदी को गावो सुनके मगन हो जात ते। घंटों सुनत रैत ते। राजकाज सें फुरसत पाकै जब राजा रातखों अपने महल में सोबेखो आउत हते तो पलका पें परे-परे जसोंदी की तान सुनकें दिन भर की थकान भूल जात ते।

हाड़ौती गद्यानुवाद

एक बगत की बात छै। एक सैं'-र में एक राजो छो। ऊंका राज में सब लोगांई भर पेट मलै छो अर सुख की नींदा सोवै छा। खीं भी कांई बात की तकलीफ कोई नै छी।

ऊ सैं'-र में राजा का मैं'ल कै कने जसोंदी की टापरी छी। ऊंका घर में माई बेटा दो जणा छा। बेटा जवान होग्यो छो। जसोंदी गावा बजावा को घणू सोक छो। जद मन में आवै ऊंई बगत सारंगी लेर गावा-बजावा लाग जावै छो। राजा जी जसोंदी को गावो-बजावो सुणर मगन हो जावै छा। घणी बेर तांई सुणबो करै छा। राजकाज नमटार जद राजाजी आपणा मैलां में सोवा बेई आवै छा तो पालक्या पै पड़या-पड़या जसोंदी को अलाप सुणर आखा दन की थकान भूल जावै छा।

एक अन्य बुंदेली गद्य जो एक ग्वालियर-निवासी से सुनकर लिखा गया है—

---

१. हमारी लोककथाएँ, पृ० ६।

हमने दो जोरी परेवा पाल लए। पइले जोरे की परेविन अपने जोरा के संगे हलके में हमारे गाँव के सहरिया ल्याय थे। सहरियन को तो अपने रहवै के लांय मडैया नोनी नई होत तो वे परेवन को कहां ते लाय बोर कां राखें। उन्नैं दोउअन का अपने मिलवेवारे चमार को वे दो जोरा दे दये। ई जोरा को परेवा बिलैया ने खालऊ।

हाड़ौती-गद्यानुवाद

म्हनै दो जोड़ी कबूतर पाळ ल्या। फैलका जोड़ा की कबूतरी आपणा जोडा की लेर म्हांका गांव का सँ'रया हलका मैं लाया छा। सँ'रड्यां के पास तो आपणँ रैवा बेई भी छोकी टापरी न होवै तो वै कबूतरां नी खां सै लावै अर खां राखै। वानैं दोन्याई आपणा मलवा हाळा चमार ईं वै जोड़ा दे द्या। ई जोड़ा को कबूतर बल्ली खागी।

सीपरी तथा हाड़ौती का अन्तर

डा० ग्रियर्सन ने अपने 'भारत के भाषा सर्वेक्षण' में सीपरी या श्योपरी बोली को हाड़ौती की उपबोली स्वीकार किया है[१] तथा हाड़ौतीभाषी जनसंख्या के कुल आँकड़ों में सीपरीभाषी जनसंख्या के आँकड़े भी सम्मिलित किए हैं। पर इसी ग्रंथ में विद्वान् लेखक ने सीपरी पर स्वतन्त्र रूप से भी विचार किया है। यद्यपि इस विवेचन में विस्तार अल्प है, पर इस विवेचन से डा० ग्रियर्सन का उपर्युक्त बोली के स्वतंत्र अस्तित्व की ओर झुकाव स्पष्ट प्रतीत होता है।

वस्तुत: सीपरी एक स्वतन्त्र बोली स्वीकार की जा सकती है, जिसे ग्वालियर-निवासी 'श्योपुरी' कहते हैं तथा कोटानिवासी चंबल की सहायक नदी 'सीपे' के क्षेत्रवाली बोली होने से 'सिपरी' कहते हैं,[२] यह मूल रूप से मध्य प्रदेश के श्योपुर परगनें की बोली है जो उस परगने के समीप के क्षेत्रों में भी बोली जाती है। यह बोली बुंदेली तथा डाँगी बोलियों से प्रभावित है।[3] सीपरी-भाषी केवल ४८७ व्यक्ति हैं।[४] अतएव हाड़ौती से इसका अंतर स्पष्ट देखा जा सकता है।

१. सीपरी में ह्रस्व 'इ' का प्रयोग प्राय: मिलता है जो हाड़ौती में नहीं मिलता; यथा—सी० देखि, गियो, क्रमश: हा० देख, ग्यो।

---

१. लि० स० ई०, पु० ६, भा० २, पृ० २०३।
२. वही, पु० ६, भा० २. पृ० २१६।
३. वही।
४. सेन्सस ऑफ इंडिया, १९६१, पृ० ८७।

२. सीपरी में 'ऐ' तथा 'औ' स्वरों की रक्षा हुई है जो उस पर ब्रज या बुंदेली के प्रभाव का परिणाम है। हाड़ौती में 'ऐ' तथा 'औ' का प्रयोग नहीं दिखाई देता; यथा—सी० और, मैं, पाछै, क्रमशः हा० अर, म्हूं, फाचे।

३. हाड़ौती में प्राणध्वनि शब्द के आदि की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति रखती है और कहीं वह कंठनालीय स्पर्श के रूप में विद्यमान है, पर सीपरी में उसका स्थान हिंदी के समान ही बना हुआ है; यथा—सी० कहाणी, वहाँ, नाहर, ऊभो, क्रमशः हा० ख्याणी, वां या व्हां, न्हार, ऊबो।

४. संस्कृत की 'इ' वर्गीय ध्वनियाँ सीपरी में लुप्त होने के अनेक उदाहरण मिलते हैं, हाड़ौती में उन्होंने स्थान या वेश बदलकर अपना अस्तित्व बना रखा है; यथा—सी० चारां, बचारी क्रमशः हा० च्यारां, बच्यारी।

५. सीपरी में पुरुषवाचक सर्वनाम हाड़ौती से भिन्न मिलते हैं; यथा, सी० हूँ, मोको, मोइ क्रमशः हा० म्हूं, मे, म्हंई।

६. सीपरी में कर्म तथा सम्प्रदान कारकों में प्रयुक्त 'कूं' परसर्ग मिलता है, पर हाड़ौती में 'ई नै' और 'के ताई' प्रयुक्त होते हैं; यथा—सी० मोकूं, मोको, तोको, रामकूं क्रमशः हा० मई, म्हारे, ताई, थई, थारै ताई, राम नै।

७. सीपरी में अस्तिवाचक क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ तथा भूत निश्चयार्थ के रूप क्रमशः 'है' व 'हा' हैं जबकि हाड़ौती में 'छै, छा' हैं।

नीचे सीपरी का गद्यांश दिया जा रहा है--

सीपरी गद्य

एक सुआड़यो और एक सुआड़ी एक ठौर रहवो करे हा। एक दिन वांकूं प्यासी लागी। जद सुआड़ी ने सुआड़या सूं कही पाणी पीवा चालां तू कहाणूयां भी जाणे है, वहाँ एक नाहर की आन्दर है। तू कोई कहाणी जानतो होव तो आपण पाणी पियां। हूँ प्यासी मरूँ छूँ। या कहर वै पाणी की ठौर पै गया, वहाँ जार सुआड़ी ने पूछी तू कोई कहाणी जाणै है। ज्यूं ही वे पास आया वांकूं नाहर ने देखि लिया।

हाड़ौती गद्यानुवाद

एक स्वाल्यो अर एक स्वाली एक ठौर रै वू करै छा। एक दन उई तस लागी। जद स्वाली नै स्वाल्या सूं खी फाणी पीवा चालां। तू ख्याण्यां भी जाणै छे। वां एक न्हार की आंदर छै। तू कोई ख्याणी जाणतो होवैं तो आपण फाणी प्यां म्हूं तसायां मरूं छूं। या खै' र वै फाणी की ठोर पै ग्या। वां जार स्वाली नै पूछी कै तू कोई ख्याणी जाणै छै। जस्यांई वै गोड़ै आया ऊँई न्हार नै देख ल्यो।

डांगभांग तथा हाड़ौती का अन्तर

हाड़ौती की उत्तरी सीमा डांगभांग बनाती है। डांगभांग जयपुर जिले के दक्षिणी-पूर्वी भाग में कोटा जिले के उत्तर में तथा करौली के दक्षिणी सीमावर्ती क्षेत्र में बोली जाती है। इस पर जयपुरी का डांगी की अपेक्षा अधिक प्रभाव है। हाड़ौती बोली से इसका अन्तर इस प्रकार है—

१. हाड़ौती में ह्रस्व 'इ', 'ऐ' व 'औ' स्वर-ध्वनियाँ नहीं मिलतीं जबकि डांगभांग में ये ध्वनियाँ मिलती हैं। यथा—डांग० रिप्यो, आपकै, कैवो, नौकर क्रमश: हा० रप्यो, आपकै, खैवो, नोकर।

२. डांगभांग में जहाँ हाड़ौती मूर्धन्य 'ळ' प्रयुक्त होता है वहाँ भी वर्त्स्य 'ळ' प्रयुक्त होता है; यथा—हा० रेवाहाळा, डांग० रैवालां।

३. डांगभांग में मूल महाप्राणध्वनि अनेक शब्दों में लुप्त हो गई है। हाड़ौती में यह ध्वनि किसी-न-किसी रूप में अपना अस्तित्व प्राय: बनाए हुए है, यथा—डांगभांग बूको, बुसी, कवाऊँ, चायना, जीव्, क्रमश: हा० भूको, खुसी, ख्वाऊँ, छायना, जीभ्। डांगमांग में कुछ शब्दों में महाप्राणध्वनि हिन्दी शब्दों के समान स्थान बनाए हुए है, पर हाड़ौती में इसकी प्रवृत्ति आगे बढ़ने की ओर दिखाई देती है, यथा—डांग० महाराज, हा० म्हाराज।

४. डांगभांग के सर्वनाम हिन्दी के अधिक निकट हैं। इसमें तुमारो, मेरी, उन आदि प्रयोग मिलते हैं, पर साथ ही मोकूं जैसे ब्रज-प्रयोग भी दिखाई देते हैं। हाड़ौती ने इनके स्थान पर क्रमश: इन सर्वनामों का प्रयोग मिलता है—थारो, म्हारो, वा तथा मंई।

५. संज्ञा शब्दों के बहुवचन बनाने में ब्रजभाषा की प्रवृत्ति से डांगभांग प्रभावित है, पर हाड़ौती के संज्ञा शब्दों के बहुवचन भिन्न प्रकार से बनाए जाते हैं, डांग० खेतन, चाकरन, नोकरन, बेटन क्रमश: हा० खेतां, चाकरां, नोकरां बेटां।

६. डांगभांग में कर्म तथा संप्रदान परसर्गों में 'कूं' का प्रयोग बहुतायत से होता है और हाड़ौती में 'ई' के प्रयोग का प्राचुर्य है। यथा—डांग० मोकूं, नौकरन कूं क्रमश: हा० मई, नौकरानई।

७. डांगभांग में अस्तिवाचक क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ और भूत निश्चयार्थ में दो-दो रूप मिलते हैं। पहले हैं, हूँ, हा, हो और दूसरे : छे, छूं, छां, छो आदि ; जिनमें से प्रथम का व्यवहार अधिक होता है तथा दूसरे रूप कम प्रयुक्त होते हैं। हाड़ौती में दूसरे प्रकार के रूप ही प्रचलित हैं।

८. डांगमांग में पूर्वकालिक क्रिया के अन्त में 'कर', 'के' अधिक मिलते हैं और 'अर' अंत वाले कम, पर हाड़ौती में इसके विपरीत प्रयोग मिलते हैं, दोनों

बोलियों में पूर्वकालिक क्रिया इस प्रकार बनती है—जाकर, जाके, जार, मार कर, मारके, मारर।

९. डांगभांग में भूत निश्चयार्थ क्रिया के अन्य पुरुष के रूप के साथ प्रायः 'स' या 'क' व्यंजनों को सुना जा सकता है, ये व्यंजन प्राचीन सर्वनामों के अवशेष हैं। ऐसे प्रयोगों का हाड़ौती में नितांत अभाव है। इस प्रकार डांगभांग में ये प्रयोग मिलते हैं—कैस (उसने कहा), पूछीस (उसने पूछा), मारैक (उसे पीटा)।

१०. डांगभांग में जब एक विशेषण सर्वनाम या संज्ञा के साथ आता है तब कभी-कभी परसर्ग दोनों के साथ प्रयुक्त होते हैं, हा० में परसर्गो का प्रयोग केवल संज्ञा के साथ मिलता है। यथा—डांग० ऊनै राजानै कई, हा० ऊं राजानै खी, डांग० रे बाला के एक के, हा० एक रैबा हाला के।

डांगभांग गद्य[1]

कोई आदमी के दो बेटा हा। उनमें सूं छोटा बेटा ने ऊंका बाप सूं कई बाप पूंजी में सूं जो मेरी पांती आवे सो मोकूं दै। ऊनै ऊं की पूंजी उनकूं बांट दी। थोड़ा दन पाछे छोटो बेटो सारी पूंजी ले के दूर परदेस में चल्यो गयो। वहाँ जाकर ऊँने ऊँ की पूंजी गैर चलण में उड़ा दी। उंने सब पूंजी उड़ा दी। पाछे ऊं देस में भोत सो काल पड़ गयो। जद वो कंगाल हो गयो।

हाड़ौती गद्यानुवाद

कोई आदमी कै दो बेटा छा। वां मैं सूं छोटा बेटा नै आपणा बाप सूं खी, बाप पूंजी मैंसूं जो म्हारी पांती आवै ऊ मई दै। ऊनै आपणी पूंजी वांई बांट दी। थोड़ा दनां पाछै छोटो बेटो सारी पूंजी लेर दूर परदेस मैं चल्यो ग्यो। ह्वां जार ऊंने सैंदी पूंजी उड़ा दी। पाछै ऊं देस मैं घणू काल पड़ ग्यो। जद ऊँ कांगों हो ग्यो।

नागरचाल तथा हाड़ौती का अन्तर

नागरचाल हाड़ौती की उतरी सीमा बनाती है। यह जयपुरी की ही उप-बोली है। अतः इसमें एक ओर तो जयपुरी की विशेषताएँ मिलती हैं, दूसरी ओर हाड़ौती की सीमा से लगी होने के नाते इसमें हाड़ौती की अनेक विशेपताएँ विद्यमान हैं। इसके बोलने वालों की संख्या २८६३७ है।[2] दोनों में निम्नलिखित अन्तर हैं—

---

१. लि० स० इ०, पु० ९, भा० १, पृ० ३५६।
२. सेन्सस ऑफ इंडिया, १९६१, पृ० ८६।

१. नागरचाल में 'ऐ' स्वर मिलता है, जो हाड़ौती में नहीं पाया जाता। हाड़ौती में 'ऐ' के स्थान पर 'ए', 'अै', 'ई' का प्रयोग होता है। यथा—ना० नीचै, चावै, जठै क्रमशः हा० नीचे, छावै, जठीं।

२. नागरचाल में मूर्धन्य 'ळ' का प्रयोग हा० की अपेक्षा अधिकता से दिखाई पड़ता है। यथा—ना० कागळो, मायळो, मळ्यो क्रमशः हा० कागलो, मायलो, मल्यो।

३. कभी-कभी संज्ञाओं में 'य्' ध्वनि आकर ना० में एक नवीन प्रकार के शब्द को जन्म देती है। यह ध्वनि हा० में इस रूप में नहीं पाई जाती। यथा, ना० द्याळ, ख्याळ जो क्रमशः हाड़ौती में इस प्रकार मिलते हैं—दाल, खाल।

४. नागरचाल में पुरुषवाचक सर्वनाम के प्रयोग दक्षिणी हाड़ौती से काफी दूर हैं, पर उत्तरी हाड़ौती से मिलते हैं। उत्तम पुरुष में म्हूं तथा मे, मध्यम पुरुष में तू तथा तैं संबंधवाचक सर्वनाम जो तथा जे पाए जाते हैं।

५. नागरचाल में जयपुरी के समान कर्त्ता परसर्ग-रहित प्रयुक्त होता है; हा० में कर्ता 'नै' परसर्ग-युक्त तथा परसर्ग-रहित दोनों रूपों में मिलता है। यदि जयपुरी में यह कहना हो कि घोड़े ने घास खाई तो कहेंगे—घोड़ो घास खाई पर यदि भूल से कह दें 'घोड़ा नै घास खाई' तो उसका तात्पर्य होगा—'घास घोड़े को खा गई। हाड़ौती में 'घोड़ा नै घास खाई' का तात्पर्य हिंदी के अनुरूप ही होगा।

६. नागरचाल में सप्तमी में 'ने' परसर्ग का प्रयोग हाड़ौती से भिन्न प्रकार से होता है। यथा ना० रातनै दोन्यूं सामल हो जावै, हा० रात मै दोन्यूं सामल हो जावै, पर हाड़ौती में 'म्हूं ऊंका घरणै ग्यो' में 'णै' सप्तमी के परसर्ग रूप में भी कहीं-कहीं प्रयुक्त होता है।

७. नागरचाल का भविष्य निश्चयार्थ इन तीन प्रकारों से बनता है :

१. आपां भायैळो मंडस्यां	(हम मित्र बनेंगे)
२. अपां भायैळो मडांळां	,, ,,
३. आपां भायैळा मडैगां	,, ,,

हाड़ौती में दूसरे रूप का नितांत अभाव है। प्रथम तथा तृतीय रूप उत्तरी हाड़ौती में ही मिलते हैं। दक्षिण हाड़ौती में तो केवल तृतीय रूप प्रचलित है। दूसरा रूप बड़ा रोचक है। इसमें लिंग-वचन का प्रभाव क्रिया के अन्तिम अक्षर 'ळां' तथा उसके पूर्व अक्षर दोनों पर पड़ता है जबकि शेष रूपों में केवल अंतिम अक्षर ही विभिन्न रूपों का बोध कराता है।

८. नागरचाल में 'अस' तथा 'स' का क्रिया के ठीक पश्चात् प्रयोग उसकी निजी विशेषता है। जयपुरी में इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग अन्यपुरुषवाचक

सर्वनामों के लिये होता।[1] यहाँ यह 'कि' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा, स्यार बोल्यो अस आपां तो मंडस्या (सियार ने कहा कि हम तो बनेंगे)।

उपर्युक्त अन्तर को स्पष्ट करने के लिए नागरचाल का एक गद्य और उसका हाड़ौती अनुवाद दिया जा रहा है—

नागरचाल गद्य

जद फेर दूसरै दन ऊ स्याळर हरण मळ्यो तो कै आज तो तू थारा मायैळा नै बूज्यायो। अब आपां दोन्यूं मायैळा मंडां। जद हरण बोल्यो अरै माई स्याळ म्हारो मायैळो तो नटग्यो-अस तू मायैळो मत मंडे। जद स्याळ बोल्यो—अस आपांतो मंडस्यां। जद स्याळ बी आंथणका ऊँकी लार-लार ऊँई रोखड़ा नीचै गीयो जठै कागळो र हरण बैठे छा। जद हरण कागळा नै फेर बूजी कै यो तो मानै कोनै। मायैळो मंडवा वेई आग्यो। जद कागळो बोल्यो तू म्हारी मानै छै तो ईसूं मायैळो मत मंडे स्याळ की जात दगावाज छै। दगो करर तेने कोई दन मरा घलासी।

हाड़ौती गद्यानुवाद

जद फेर दूसरै दन ऊ स्याळ्यो अर हरण मल्यो। तो खी आज तो तू थारा मायला सै फूच्यायो। अब आपण दोन्यूं मायला वण जावां। जद हरण बोल्यो अरै माया स्वाळ्या म्हारो मायळो तो नटग्यो कै तूं मायलो मत वण। जद स्वाळ्यो नै खी कै आपण तो वणैंगां जद स्वाळ्यो भी आंथणका ऊँकी लेर-लेर ऊँई रूंखड़ा कै तळै ग्यो ज्यां कागलो अर हरण बैठे छा। जद हरण कागला नै फेर फूची कै यो तो मानैई कोयनं, मायलो बणवा वेई आग्यो। जद कागला नै खी तू म्हारी मानै तो ईको मायलो मत वण। स्वाळ्यो की ज्यात दगावाज छै। दगो करर तईं कोई दन मरा न्हाकैगो।

---

१ लि० स० द०, पु० ६, भा० २, पृ० १६१

हाड़ौती का खड़ीबोली के उच्चारण पर प्रभाव

प्रत्येक भाषा-भाषी के उच्चारण की निश्चित विशेषताएँ होती हैं, जो वहाँ की भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक व वंशानुगतिक परिस्थितियों से उत्पन्न होती हैं। इसलिए वहाँ कुछ तो नवीन स्वर और व्यंजन ध्वनियाँ पायी जाती हैं और कुछ का अभाव रहता है तथा अनेक ध्वनियों का ठीक वही उच्चारण नहीं मिलता है जो इतर भाषा-भाषी क्षेत्रों में पाया जाता है। पर यह अन्तर इतना सूक्ष्म होता है कि समान्य रूप से हमारे कान उसे पहिचान सकने में असमर्थ होते हैं। उच्चारण की दृष्टि से भाषा के दो पक्ष होते हैं—श्रोतृपक्ष व वक्तृ-पक्ष। दोनों पक्षों में किसी अन्य भाषा की ध्वनियों को अपनी मातृभाषा की ध्वनियों के साँचे में ढालकर ग्रहण करने तथा व्यक्त करने की स्वाभाविक भूल हो जाया करती है। इसीलिये हाड़ौती भाषी व्यक्ति हिन्दी ध्वनियों को ग्रहण कर जब उनका उच्चारण करता है तो उसमें मूल से इतना सूक्ष्म अन्तर रहता है कि वहाँ तक हमारा मस्तिष्क सहसा पहुँचता भी नहीं है।

हाड़ौती का क्षेत्र हिन्दी क्षेत्र के अन्तर्गत ही है। इसलिये इस क्षेत्र में हिन्दी का प्रचार-प्रसार इतनी द्रुत गति से हो रहा है कि नगरों से हाड़ौती को निष्कासन-सा प्राप्त होता जा रहा है, पर गाँवों में यह अभी पूर्णरूपेण सुरक्षित है। गाँवों की जनसंख्या से नगरों का निर्माण होता आया है। इसलिये नागरिकों की हिन्दी पर भी हाड़ौती का प्रभाव संस्कार-रूप में देखा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि हाड़ौती का प्रभाव शिक्षित, अर्द्धशिक्षित और अशिक्षित सभी वर्गों के लोगों की खड़ी बोली के उच्चारण पर देखा जा सकता है, पर इनमें भी स्त्री-वर्ग की खड़ीबोली पुरुष-वर्ग की तुलना में हाड़ौती से अधिक प्रभावित है। इस निबन्ध में केवल उसी प्रभाव को दिखाया गया है, जो सामान्यतया इस क्षेत्र के सभी वर्गों की खड़ीबोली की ध्वनियों के उच्चारण पर पाया जाता है। यहाँ व्यक्तिगत त्रुटियों की ओर संकेत करना अभीष्ट नहीं है।

हाड़ौती में 'इ' स्वर-ध्वनि का अभाव है। इसका प्रभाव खड़ीबोली की उस शब्दावली पर नहीं पाया जाता है जहाँ शब्दारम्भ में यह ध्वनि होती है। खड़ीबोली में कुछ ऐसे शब्द हैं, जिनमें एक से अधिक बार यह स्वर-ध्वनि रहती है और जो हाड़ौती में अति प्रचलित है। उनमें पर-'इ' ध्वनि का स्थान या तो 'अ' ध्वनि ले लेती है या वह लुप्त हो जाती है, जैसे इन्द्रा गांधी (इंदिरा गांधी), किरकरी (किरकिरी) फिटकरी (फिटकिरी), सीसोद्या (सीसोदिया), परिस्थित्यां (परिस्थितियाँ), राग-रागिनी (राग-रागनी) आदि। पर जो शब्द सामान्य व्यवहार में अल्प प्रचलित हैं या अप्रचलित हैं उनका उच्चारण यथावत् होता है; जैसे—शिथिल (शिथिल)।

संस्कृत में "ऋ' का उच्चारण कुछ भी रहा हो, पर हिन्दी में वह 'रि' के समान उच्चरित होती है। यह जब स्वतन्त्र रूप में शब्द के आरम्भ में प्रयुक्त होती है तब तो उसका उच्चारण हाड़ौती क्षेत्र में भी हिन्दी के समान हो जाता है, पर जब यह किसी व्यंजन के साथ मिलकर आती है तो इसका उच्चारण कुछ भिन्न प्रकार होता है, यथा-ह्रष्ट (हृष्ट), ह्रदय (हृदय), क्रष्णा (कृष्णा), पर मातृ-प्रेम जैसे शब्दों मे इसका वही उच्चारण होता है।

हाड़ौती में 'ऐ' तथा 'औ' स्वर-ध्वनियां नही मिलती हैं। इसलिये जहाँ हिन्दी में ऐसी ध्वनियाँ पाई जाती हैं उनके स्थान पर ग्रामीणों की हिन्दी में तो क्रमश: 'ए' और 'ओ' ध्वनियां प्रयुक्त होती है और शिक्षित व्यक्तियों का उच्चारण दोनों के मध्य का होता है, पर यहाँ भी झुकाव हाड़ौती ध्वनियों की ओर ही रहता है। जैसे एनक (ऐनक), केसा (कैसा), ओसत (औसत), सो (सौ), चोदा (चौदह), ओद्योगिक (औद्योगिक) आदि। कुछ शब्दों मे 'ऐ' विलम्बित 'अऽ' रूप में उच्चरित होता है—जैसे 'हऽ' (है)।

उपर्युक्त दोनो स्वरों के उच्चारण मे अन्तर का सम्बन्ध उनके अति या स्वल्प प्रयोग से भी नहीं दिखाई देता है। जो शब्द-समूह हाड़ौती में भी लोक-व्यवहार में प्रचलित है वहां तो यह अन्तर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

हाड़ौती क्षेत्र के कुछ शब्दों में 'ए' तथा 'ओ' दीर्घ स्वर-ध्वनियों का ह्रस्व उच्चारण भी पाया जाता है; जैसे—जावेंगा (जावेगा), खावेंगा (खाओगा)। संभवत: यह प्रवृत्ति हिन्दी की भी है; जो उसकी वर्तनी से मेल नहीं खाती है।

हाड़ौती-भाषी हिन्दी शब्दों में अकारण अनुनासिकता का आरोप कर देते हैं; जो हाड़ौती उच्चारण की प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति तो इतनी व्यापक और स्पष्ट है कि सभी स्तरों पर इसे स्पष्ट रूप से सुना जा सकता है; जैसे—कांच (काच), चांवल (चावल), मीरां (मीरा) झूंट (झूठ), घांस (घास) आदि।

हाड़ौती-भाषियों के लिये शब्दान्त या शब्द-मध्य में 'अह' ध्वनि अपरिचित है। इसलिये वे हिन्दी के ऐसे शब्दों में जहां ऐसी ध्वनियाँ पायी जाती हैं, या तो

उसे 'आ' कर देतेहैं या 'ए' कर देते हैं; यथा—बारा (बारह), तेरा (तेरह), चौदा (चौदह), मसले उद्दीन (मसलहद्दीन)। ऐसे उच्चारणों को एन० सी० सी० की परेडों के अवसर पर क्रमशः संख्या बोलते कैडेटों के मुख से सहज ही सुना जा सकता है।

जहाँ हिन्दी शब्दों में 'उआ' ध्वनियाँ आती हैं (कभी-कभी वैकल्पिक रूप से 'उवा' भी) वहाँ हाड़ौती को केवल 'उवा' ध्वनि प्रिय है। इसका प्रभाव यह हुआ कि हिन्दी के अनेक शब्दों का जहाँ उक्त रूप पाया जाता है, वहाँ हाड़ौती-क्षेत्र में उनका भिन्न उच्चारण मिलता है; जैसे—कुंवारा (कुंआरा), पुवा (पुआ), कुँवाँ (कुआँ, वै० रूप कुँवा)।

यही बात 'उए', 'आए ध्वनियों के सम्बन्ध में भी हैं। उनके स्थान पर इस क्षेत्र का उच्चारण 'उवे', 'आवे' की ओर झुका हुआ है; जैसे—हुवे (हुए), जावे (जाये)।

'ह' खड़ीबोली में सघोष, महाप्राण, स्वरयन्त्रमुखी, संघर्षी व्यंजन ध्वनि है, पर हाड़ौती में यह अघोष, महाप्राण, स्वरयन्त्रमुखी, संघर्षी व्यंजन ध्वनि है। इसलिये इस क्षेत्र में इसका अघोष उच्चारण ही होता है। यहाँ इस ध्वनि का हिन्दी शब्दों में पूर्ण उच्चारण शब्द के आदि में होता है, मध्य या अन्त में पाये जाने वाले 'ह' की महाप्राणता अनेक शब्दों में या तो लुप्त हो जाती है या ईषत् हो जाती है (कंठनालीय स्पृष्ट ध्वनि में भी बदल जाती है); जैसे—क'अ (कह), तुमारा (तुम्हारा), धोका (धोखा), झूँट (झूठ)।

'सिंह' शब्द में यह 'ग' में भी बदल जाती है, जैसे—सिंग (सिंह)।

हाड़ौती के अनुनासिक व्यंजनों में 'ण'-बहुलता है, इसलिए तनिक असावधानी से शिक्षित व्यक्ति भी 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग बोलचाल में कर जाते हैं, जैसे—मीणा (मीना), काणा (काना) आदि।

हाड़ौती बोली में एक शब्द में दो महाप्राण व्यंजन ध्वनियाँ पास-पास नहीं रहती हैं। यदि मूल में ऐसी ध्वनियाँ होती हैं तो उनमें से पर-ध्वनि की महाप्राणता लुप्त हो जाती है। उसका इस का प्रभाव हिन्दी शब्दों के उच्चारण में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है; जैसे—झूँट (झूठ), धन्दा (धन्धा), भावी (भाभी), ढीट (ढीठ)।

हाड़ौती-भाषी हिन्दी शब्दों में तीन शिन्, ध्वनियों—श्, ष् व स् के स्थान पर केवल श व स को ही स्वीकार करते हैं (यद्यपि हाड़ौती बोली में केवल एक शिन् ध्वनि 'स' है)। इस स्वीकृति का परिणाम यह हुआ है कि शेष 'ष्' ध्वनि को अन्य दो शिन् ध्वनियों में से किसी एक के द्वारा व्यक्त होना पड़ता है (यह प्रवृत्ति हिन्दी की भी है)। जैसे—शण्मुख (षण्मुख), शट्कोण (षट्कोण), पर जहाँ प्रशिक्षण का अभाव है वहाँ 'सण्मुख' या 'सट्कोण' शब्द भी सुने जाते हैं।

संस्कृत 'ञ्' व्यंजन का संयुक्त व्यंजन रूप में शुद्ध उच्चारण न हिन्दी में होता है और न हाड़ौती में। दोनों के क्षेत्रों में इसके स्थान पर 'न्' उच्चरित होता है; यथा—पन्जा (पञ्जा), चन्चु (चञ्चु)। इसी प्रकार संयुक्त व्यंजन 'ण्' का उच्चारण भी 'न्' ही दोनों में होता है, यथा पन्डित (पण्डित)।

हाड़ौती में 'ळ्' व्यंजन पाया जाता है; जो हिन्दी शब्दों में नहीं मिलता है। हाड़ौती के इस व्यंजन ने हिन्दी शब्दों को अधिक प्रभावित नहीं किया है। पर कुछ शब्दों में यह उच्चारण सुना जा सकता है—उधार लिये हुए शब्दों में या ऐसे शब्दों में जहाँ दन्त्य 'ल्' से पूर्वगामी व्यंजन मूर्द्धन्य श्रेणी का हो, जैसे—कळकळती, विरळा (विरला)। कभी-कभी असावधानी से ऐसे शब्द भी शिक्षितों के मुख से निकल जाते हैं—चावळ (चावल), दाळ (दाल) आदि।

हाड़ौती बोली में 'मास्टर साहब' का उच्चारण गाँवों में 'माट्साब' होता है, पर यहाँ की खड़ीबोली का उच्चारण इससे भिन्न है। वह है—मास्टर साब। यह उच्चारण उसकी प्रवृत्ति के अनुकूल है, जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है।

हिन्दी में अंग्रेजी के अनेक शब्द आये, उनके साथ उसकी कुछ ध्वनियाँ भी आईं। वहाँ ऐसी नवागत ध्वनियों के लिये कुछ लिपि-चिह्न भी स्वीकार कर लिये गए। ऐसी ध्वनियों से हाड़ौती भाषियों का परिचय नहीं था। इसलिये जहाँ अशिक्षा या अर्द्धशिक्षा है वहाँ ऐसी ध्वनियों का निकटतम हाड़ौती ध्वनियों के रूप में उच्चारण किया जाता है, जैसे—फूटवाल या फुटबोल, पोस्ट आफिस या पोस्ट ओफिस आदि।

हाड़ौती शब्दों में स्वराघात प्राय: शब्दारंभ की ओर रहता है। इसलिये पूर्वगामी स्वर के उपरान्त दीर्घ समस्वर हुआ तो पूर्व का लोप हो जाता है। इस प्रवृत्ति का प्रभाव हिन्दी शब्दों के उच्चारण पर भी देखा जा सकता है, यथा—न्हाकर (नहाकर), म्हाराज (महाराज) आदि।

हाड़ौती क्षेत्र में कुछ शब्दों में वर्तनी के भ्रामक ग्रहण या अशुद्ध वर्तनी ने भी उच्चारण-भ्रम उत्पन्न किया है। वे शब्द हैं—विद्यार्थी, सहस्र, अनुगृहीत आदि। इसके उच्चारण हाड़ौती क्षेत्र में क्रमश: विध्यार्थी, सहस्त्र और अनुग्रहीत होते हैं। 'विद्यार्थी' के 'विध्यार्थी' उच्चारण का जनक उसका लिपि-चिह्न 'द्य' है, जिसे विद्यार्थी भ्रम से 'ध्' और 'य का संयोग समझ लेते हैं और फिर ऐसी समझवाले अध्यापक बनकर अपनी समझ को समझ-बूझ के साथ नयी पीढ़ी को विरासत रूप में सौंपते रहते हैं। दूसरे शब्दों में पुस्तकों तक में पाई जाने वाली अशुद्ध वर्तनियाँ अशुद्ध उच्चारण का कारण बनी हैं। ऐसी पुस्तकों में अध्ययन से विद्यार्थियों में इतना दुराग्रह बढ़ जाता है कि वे अध्यापक द्वारा बताये गये संशोधन को भी पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं करते हैं।

हाड़ौती की प्रवृत्ति असंयुक्त व्यंजनों के प्रयोग की ओर है और जहां उसमें व्यंजन-संयोग पाया जाता है उसकी अपनी प्रवृत्ति है। इसलिये जब हिन्दी की संयुक्त व्यंजन-ध्वनियों से हाड़ौती भाषी का प्रथम परिचय होता है तो उनके उच्चारण में उसकी जीभ लड़खड़ा जाती है या सही उच्चारण नहीं कर पाती। इसका सही बोध मौन विद्यार्थी पाठकों द्वारा द्रुतगति से पुस्तक के व्यक्त पठन से हो सकता है। इसलिये 'उपस्थित श्रीमन्' या 'प्रत्युत्पन्नमति' जैसे शब्दों के उच्चारण में उन्हें काठिन्य दिखाई देने लगता है।

पर हाड़ौती में संयुक्त व्यंजनों में 'य्' और 'व्' पर-व्यंजन रूप में अति प्रचलित हैं। इस अति प्रचलन से 'चार' के स्थान पर शिक्षित भी 'च्यार' उच्चारण करते रहते हैं।

वाक्य-स्तर पर भी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। ऐसे प्रभावित साधारण वाक्य का आरम्भ तो तनिक बल से होता है, पर उसका बल क्रमशः उत्तरोत्तर कम होता चला जाता है—आदि से अन्त तक समबलता नहीं पायी जाती है। इससे क्रिया का उच्चारण शेष शब्दों से निर्बल होता है। पर प्रश्न, उत्सुकता आदि के प्रसंगों पर ऐसा नहीं होता है।

शुद्ध उच्चारण से वक्ता की भाषा का सौंदर्य निखरता है और श्रोता पर सुप्रभाव पड़ता है। उच्चारण-शिक्षा की ओर समुचित ध्यान शिक्षक और विद्यार्थी इसलिये नहीं देते हैं कि हिन्दी हमारी मातृभाषा और राष्ट्रभाषा है। पर यह भ्रम है। भाषा अर्जित संपत्ति है और अर्जित उच्चारण पर अधिकार प्रयत्न-साधन द्वारा ही होता है। अनभ्यास या यत्नसाधन में शैथिल्य दिखाने पर अर्जित उच्चारण में भी दोष आ जाना स्वाभाविक है। इसलिये उच्चारण की शुद्धता को बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि हम प्रभावशाली विद्वान् वक्ताओं के उच्चारण-सौकर्य को ध्यान से सुनें और ग्रहण करें। आकाशवाणी के समाचार-प्रसारणों को भी ध्यान से सुनकर हम अपने उच्चारण को सुधार सकते हैं।

हाड़ौती में विदेशी ध्वनियाँ

हाड़ौती में विदेशी ध्वनियों का आगमन मुसलमानी प्रभाव या यूरोपीय प्रभाव के फलस्वरूप हुआ। मुसलमानी व अंग्रेजों का देश पर आधिपत्य होने के उपरान्त उनकी अरबी-फारसी व अंग्रेजी भाषा के शब्दों का व्यवहार भी सामान्य जनता में होने लगा। हाड़ौतीभाषी जनता के लिए उनकी अनेक ध्वनियाँ अपरिचित थीं, जिनको मूलरूप में पचा लेना उसके लिए असम्भव था। अतः जो विदेशी शब्द हाड़ौती में प्रयुक्त होने लगे, उनकी ध्वनियों में अनेक परिवर्तन यहाँ आकर हुए। ये परिवर्तन उन ध्वनियों में तो हुए ही जो हाड़ौती-भाषियों के लिए नितान्त अपरिचित थीं, पर परिचित ध्वनियों में भी मुख-सुख व अंधसादृश्य के कारण अनेक ध्वनियाँ परिवर्तित रूप में ग्रहण की गईं। अपरिचित ध्वनियाँ प्रायः किसी समानोच्चरित हाड़ौती ध्वनि में परिवर्तित होकर इस क्षेत्र में अपनाई जाने लगी।

(क) अरबी-फारसी शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन

(१) अरबी-फारसी में ऐसी अनेक ध्वनियाँ थीं जो लिपि-संकेतों की भिन्नता के साथ हाड़ौती से उच्चारण-भिन्नता भी रखती थीं, पर यह भिन्नता इतनी सूक्ष्म थी कि सामान्य हाड़ौती जनता के कान न तो उसे समझने के लिए कुशल थे और न जीभ उसको उसी रूप में उच्चारण कर सकती थी। अतः ऐसे समान ध्वनि-समूह के लिए हाड़ौती में एक ध्वनि काम में आने लगी। ऐसी कुछ समान ध्वनियाँ नीचे दी जाती हैं।

अरबी फ़ारसी के वर्ण		मूल उच्चारण	हाड़ौती उच्चारण
अलीफ़	(ا)	अ	अ
ऐन	(ع)	अ़	
काफ	(ک)	क्	
क़ाफ़्	(ق)	क़्	क्
गाफ	(گ)	ग्	
ग़ैन	(غ)	ग़ैन	ग्

ज़ाल	(ز)	द़् (अ०) ज़् (फा०)	ज्
ज़े	(ذ)	ज़्	
ज़ोय	(ظ)	ज़् (अ०) ज़् (फा०)	
ज़्वाद	(ض)	द़् (अ०) ज़् (फा०)	
झ़े	(ژ)	झ़् (फा०)	
जीम	(ج)	ज्	
ते	(ت)	त्	त्
तोय	(ط)	त् (अ०) त् (फा०)	
से	(ث)	स़् (अ०), (फा०)	स्
सीन	(س)	स्	
स्वाद	(ص)	स़् (अ०) स् (फा०)	
शीन	(ش)	श्	
हे	(ح)	ह् (अ०) ह् (फा०)	ह्
हे	(ه)	ह्	

नीचे उपर्युक्त ध्वनि-परिवर्तन को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण दिये जा रहे है।

अक्कल < अक़्ल, अल्ला < अल्लाह्, कलम < क़लम, कतल < क़त्ल, कागद < काग़ज, गरीब < ग़रीब, जायको < ज़ाइक़, जेर < ज़हर, जुलम < ज़ुल्म, जरूर < ज़रूर, जनाब < जनाब, तरै < तरह, तसवीर < तस्वीर, साफ < साफ़, स्याबास < शाबाश, सुकर < शुक्र. हाजर < हाज़िर, सुबै < सुबह, म्हैनत < मेहनत।

(२) उपर्युक्त ध्वनियों में से संघर्षी-ध्वनियों, क़, ख़, ग़, ज़, फ़ का स्थान क्रमशः स्पर्शो—क्, ख्, ग्, ज्, फ् ने ले लिया; यथा—

कीमत < क़ीमत, खबर < ख़बर, गलत < ग़लत, फसाद < फ़िसाद

अरबी-फारसी के ह्रस्व 'इ' कार युक्त शब्दों के 'इ' स्वर का परिवर्तन हाड़ौती में अनेक प्रकार से हुआ, कहीं वह 'अ' या 'ई' में परिवर्तित हो गया और कहीं स्वराघात के साथ आगे या पीछे जाकर संधि-नियमों के अनुसार परिवर्तित हो गया; यथा—

अन्याम < इनाम, एलम < इल्म, खत्याब < खिताब, मैंजीद < मस्जिद

(३) अनेक शब्दों में स्वर-भक्ति के फलस्वरूप शब्द के मध्य में स्वरागम हुआ—

उदा०—जुलम < ज़ुल्म, हुकम < हुक्म, कतल < क़त्ल, मुसकल < मुश्किल, फ़रज < फ़र्ज़।

(४) स्वर-लोप और स्वर-विपर्यय के भी अनेक उदाहरण हाड़ौती में मिलते हैं—

उदा०—मामलो < मुआमलह्, स्याही < सियाही, मुकम्मल < मुकम्मिल।

(५) स्वर तथा व्यंजन-विपर्यय के अनेक उदाहरण हाड़ौती में मिलते हैं; यथा, अन्याम < इनाम, मतवल < मतलव, मुचलको < मुकल्चह, कत्यावी < तकावी, वासर < वारिस ।

(६) व्यंजन-लोप के भी उदाहरण मिलते हैं :

उदा०—मजीद < मस्जिद, मजूर < मजदूर, वकाल < वक्काल ।

(७) अनेक अरबी-फारसी की ध्वनियाँ हाड़ौती में प्रायः ज्यों की त्यों आ गई हैं, वे हैं : (ا) अ्, (ب) ब्, (پ) प्, (ت) त् (ث) स्, (ج) ज्, (چ) च्, (د) द्, (ر) र्, (س) स्, (ک) क्, (گ) ग्, (ل) ल्, (م) म्, (ن) न्, (و) व्, (ہ) ह्, (ی) य् ।

इनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं ।

असवाब < असवाब, पेस < पेश, असर < असर, जनाव < जनाव, चाकर < चाकर, रातव < रातिव, जगर < जिगर, अनसान < इन्सान ।

(८) अरबी-फारसी में मिलने वाला 'ह' का अनेक शब्दों में कंठनालीय स्पर्श में परिवर्तन हो गया और यदि अपने से पूर्व 'अ' हुआ तो उसे विलम्बित 'अै' में परिवर्तित कर गया, यथा—

मै'ल < महल, सै'र < शहर, सा'ब < साहब, मै'र < महर ।

(९) कुछ शब्दों में ध्वनि-परिर्तन इस प्रकार हुआ है :

(क) अघोष स्पर्श के स्थान पर सघोष स्पर्श—

उदा०—नगद < नक़द, तगदीर < तक़्दीर, ठगटो < तख्त, फगत < फ़कत ।

(ख) अनुनासिकता का आगम : यह अनुनासिकता मूल भाषा में पाये जाने वाले किसी अनुनासिक व्यंजन के फल-स्वरूप आई है ।

उदा०—खां < खान्, मंदरसो < मदरसा ।

(ग) कहीं एक वर्ण ने समीपता के कारण दूसरे वर्ण को प्रभावित किया है ।

उदा०—लीलाम < नीलाम ।

(घ) कुछ शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन आश्चर्यजनक हुआ है, यथा, तकाजो < तकादह, हूंदर < हुनर ।

(ख) यूरोपीय शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन

अंग्रेजी के राज्य-स्थापन के उपरान्त अंग्रेजी तथा उसके माध्यम से अन्य यूरोपीय-भाषाओं के शब्द हाड़ौती में आये । अंग्रेजी भाषा साहित्य की दृष्टि से तो सम्पन्न भाषा है, पर लिपि की दृष्टि के सम्पन्न नहीं कही जा सकती । यही कारण है कि उसमें अनेक ऐसी ध्वनियां वर्तनी-गत रूढ़ता से निकलती हैं, जिनके लिए कोई एक लिपि-चिह्न नहीं है । स्वरों की संख्या वर्णमाला में तो केवल ५ हैं,

पर वर्तनियों के फलस्वरूप सभी हाड़ौती स्वर-ध्वनियाँ प्रकट की जाती हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी व्यंजनों में भी सभी हाडौती व्यंजन-ध्वनियों को व्यक्त करने की क्षमता है। हाड़ौती का उच्चारण अंग्रेजी में नहीं मिलता और न हाड़ौती 'ण्' अनुनसिक-व्यंजन ही अंग्रेजी में सुनाई पड़ता है। अंग्रेजी फ़ (f), ज़ (z), क्स (x) तथा य (y), क्व (q) ध्वनियों के लिए हाड़ौती में ठीक वैसी ही कोई ध्वनि नही मिलती। अत: उक्त अंग्रेजी-ध्वनियों से बने शब्दों में परिवर्तन आवश्यक हुए।

हाड़ौती-भाषियों के पास अंग्रेजी शब्द हिन्दी-भाषी जनता के माध्यम से आये। अत: वे सब ध्वनि-परिवर्तन तो हाड़ौती में हुए ही जो हिन्दी में ऐसी ध्वनियों में हो चुके थे, पर साथ ही ऐसे भी परिवर्तन उन शब्दों में मिलने लगे जो हाड़ौती भाषा की अपनी विशेषता है।

(१) अंग्रेजी शब्दों में पाई जाने वाली, ह्रस्व 'इ' ध्वनि प्राय: 'अ' या 'ई' में बदल गई अथवा स्वराघात के साथ शब्द में इधर-उधर चली गई और उस अक्षर के स्वर के साथ मिलकर संधि के नियमों के अनुसार परिवर्तित हो गई; यथा—

अंजन < एंजिन, अंजीनेर < इंजिनियर, अंच < इंच, टैम < टाइम, सैंस < साइन्स, पैमसल < पैंसिल।

(२) कुछ स्वर-ध्वनियों की अंग्रेजीगत ध्वनि-सूक्ष्मता हाड़ौती में लुप्त हो गई थी और उसके निकटवर्ती स्वर ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया। अंग्रेजी की स्वर-ध्वनियों में आरम्भिक परिवर्तन तो हिन्दी में हुआ और तत्पश्चात् जब ये हाड़ौती में आई तो इनमें फिर परिवर्तन हुआ; यथा—

हा० पैन < हि० पैन < अं० पैंन, चाक् < हि० चाक् < अं० चक्, फटबोल < हि० फुटवाल < अं० फुटबॉल, आपस < हि० आफिस < अं० ऑफिस्।

(३) अंग्रेजी शब्दों की संयुक्ताक्षरता हाड़ौती में आकर सरल हो गई; यथा—माट्सा < मास्टर साहब, कंपोटर < कम्पाउण्डर, नसपैटर < इन्स्पेक्टर, रंगरूट < रिक्रूट।

अनेक शब्दों के सरलीकरण में स्वरभक्ति ने योग दिया, यथा—फारम < फार्म, बगस < बॉक्स, डांगदर < डाक्टर।

फिर भी ऐसे शब्द मिलते हैं जिनमें पूर्ण सरलीकरण अभी नहीं होता है।

उदा०—कस्टरेल < कैस्ट्रोइल, अस्पेसल < स्पेशल, टरेक्टर < ट्रैक्टर, अस्ट्याम < स्टाम्प।

(४) हाड़ौती के शब्दों के आदि में प्राय: संयुक्ताक्षरता नहीं मिलती। अत: ऐसी समस्त ध्वनियाँ जो शब्द के आदि में असंयुक्ताक्षर रूप धारण कर गईं। यह कई प्रकार से हुआ—

(क) आदि-स्वरागम द्वारा :

उदा०—अस्ट्याम < स्टाम्प, अस्कूल < स्कूल, अस्टेसन < स्टेशन।

(ख) दो संयुक्त व्यंजनों में से कोई एक शब्द के आदि में असंयुक्त रूप में प्रयुक्त होने से—

टरंक < ट्रंक, फरेम < फ्रेम।

(५) मध्य के स्वर तथा व्यंजनों के लोप के भी अनेक उदाहरण हाड़ौती में मिलते हैं :

उदा०—गाडर < गर्डर, गाड < गार्ड, वासकट < वेस्टकाट।

(६) मध्य तथा अन्त्य-व्यंजन के आगम के उदाहरण भी अनेक शब्दों में मिल जाते हैं।

उदा०—टमाटर < टोमैटो,

(७) अघोष ध्वनियों का सघोष ध्वनियों में तथा सघोष ध्वनियों का अघोष ध्वनियों में परिवर्तन भी अनेक शब्दों में हुआ, यथा—टगस < टिकिट, काग < कार्क, लाट < लार्ड।

(८) जिन शब्दों में अंग्रेजी स्वरों में अनुनासिकता नहीं थी उसमें अनुनासिकता मिलती है, जो किसी अवस्था में तो अनुनासिक व्यंजन के फलस्वरूप आई हैं और किसी अवस्था में अकारण ही; यथा—

कांजीहोत् < काइन हाउस, डांगदर < डाक्टर।

(९) हाड़ौती प्रकृति के अनुसार एक ही शब्द में इकार प्रधान या उकार प्रधान वर्ग की दो ध्वनियाँ एक साथ नहीं रह सकती, इसके फलस्वरूप कुछ अंग्रेजी शब्दों में स्वर-परिवर्तन हुए; यथा—

टगस < टिकिट, अपरेसन < आपरेशन, साफीटगस < सर्टिफिकेट, चमनी < चिमनी।

(१०) असावधानी के फलस्वरूप और शब्दों में स्वर या व्यंजन-विपर्यय भी हुआ, यथा—

साफीटगस < सर्टिफिकेट, संगल < सिगनल।

(११) 'न्' का 'म्', तथा 'ल्', में परिवर्तन अनेक शब्दों में हुआ। सलीमूं < सिनेमा, लालटेन—लैन्टर्न, लम्बर < नम्बर, पेमसल < पैंसिल" बरामडी < ब्रान्डी।

हाड़ौती लोक-साहित्य

'हाड़ौती' शब्द क्षेत्र-वाचक और बोली-वाचक है, जिसका प्रोयग संज्ञा और विशेषण दोनों रूपों में होता है। वर्तमान बूंदी, कोटा और झालावाड़ जिला के उत्तरी भाग हाड़ौती क्षेत्र कहलाता है। चौहानवंश की एक शाखा—हाड़ा शाखा के क्षत्रिय गत सात सौ वर्षों तक इस क्षेत्र के शासक रहे हैं। इस 'हाड़ा' शब्द से ही 'हाड़ौती' शब्द (हाड़ा + पुत्र > हाड़ा-उत्त > हाड़ा-उत > हाड़ौत + ई) बना है। इस क्षेत्र में अनेक बोलियाँ पाई जाती है, पर इसकी प्रमुख बोली हाड़ौती बोली है, इस लेख में प्रयुक्त 'हाड़ौती' शब्द से अभिप्राय क्षेत्र-विशेष का न होकर बोली-विशेष का है। अतः 'हाड़ौती' लोक-साहित्य से तात्पर्य हाड़ौती बोली की उस मौखिक अभिव्यक्ति से है, जो भले ही किसी व्यक्ति ने न गढ़ी हो, पर आज जिसे सामान्य लोक-समूह अपना ही मानता है और जिसमें लोक की युग-युगीन वाणी-साधना समाहित रही है और लोक-मानस प्रतिबिम्बित रहा है।[1]

हाड़ौती लोक-जीवन और संस्कृति की झाँकी उसके लोक-साहित्य में मिलती है। यहाँ के जीवन के अतीत-वर्तमान के रूपों का उसमें चित्रण मिलता है। इसका जटिल-सरल रूप उसकी विभिन्न विधाओं के माध्यम से व्यक्त हुआ है। उसके द्वारा इस क्षेत्र के सामाजिक धार्मिक स्वरूपों की रक्षा और निर्वाह हुआ है। उसके अध्ययन से यहाँ के लोक-जीवन की परम्पराएँ, रूढ़ियाँ, प्रगतिशील विचारधारा, खान-पान, वस्त्र, आवास, आभूषण, व्यवसाय आदि के सही स्वरूप को सहज ही जाना जा सकता है। वह अपनी लघुता में भी विशाल है और सरलता में भी मानस की गहराइयों तक पहुँचता है। उसमें यहाँ के लोक-जीवन के वैविध्य की अभिव्यक्ति विविध साहित्य-रूपों में हुई है।

---

1. डॉ० कन्हैया लाल शर्मा, हाड़ौती बोली और साहित्य, साहित्य खंड, पृ० १

लोकगीत—

हाड़ौती लोक-गीतों का विस्तार व्यापक है। वे विविध संस्कारों के साथ सम्बद्ध हैं और उस लोक-संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये हुए हैं, जिसे नागरिक सभ्यता या आधुनिकता निगल जाना चाहती है। इस प्रकार वे वर्तमान में अतीत हैं और आधुनिकता में प्राचीन भारतीयता के अवशेष हैं। पुत्र-जन्म के पूर्व उनका आरंभ होता है और मृत्यु-पर्यन्त वे चलते हैं। पुत्र-जन्म से पूर्व हाड़ौती में 'साध' गीत मिलता है। ऐसे गीतों में गर्भवती स्त्री की नौ मासगत रुचि का क्रमिक विकास वर्ण्य-विषय बनता है। प्रसव-वेदना, पति की प्रसव-सम्बन्धी अनभिज्ञता और सामान्य उपचार का ऐसे गीतों में वर्णन मिलता है। 'जळवा' और 'जापा' गीतों में भी लोकाचार-विषयक विवरण मिलते हैं। हाड़ौती लोरियाँ छोटी-छोटी पंक्तियों में बँधी हुई बाल-मनोविज्ञान पर आधारित वात्सल्य की संगीतमय अभिव्यक्तियाँ हैं। पुत्र और पुत्रियाँ एक ही माता-पिता की संतानें होती हैं, पर पुत्री-विषयक लोरियों में उसके प्रति सामाजिक अनुदार दृष्टिकोण की झलक मिलती है, जो पुत्र-विषयक लोरियों में नहीं है—

न्हनी बाई, न्हनी बाई रूप का डळा,
घांटी चढ़तां टूट्या नळा।

ऐसी अनेक लोरियाँ तुकबन्दी से ऊँची नहीं उठ पाई हैं।

विवाह के गीतों में सगाई, उकीरा, बंधाक, बना, लाडी, बीरा, तेल, सांझी, बासण, मैंडा, घोड़ी, सेवरो, अगवाणी, टोडरमल, कामण, बदा, रातीजगा, गाळ आदि के गीत मिलते हैं। इन गीतों में विवाह के सामाजिक-पारिवारिक महत्त्व और आदर्श-निर्वाह के साथ-साथ लोकाचार निर्वाह की परम्परा के उल्लेख भी मिलते हैं। ऐसे गीतों में कल्पना की ऊँची उड़ान, जो मूल भाव से बँधी होती है, मिलती है। तेलों के गीत में वधू के सौंदर्य की प्रतिष्ठा के साथ-साथ प्राकृतिक शक्तियों का उसके स्नान के समय आह्वान और उनका सेवाभाव की चमत्कारमयी कल्पना मिलती है—

न्हाय लै म्हारी लाड लडी
थांका पांवल्या हेटै गंगा बवै छै।
झट म्हारी आछी लाडी न्हावसी जी,
झट चांद, सूरज, रायत सांयत आव जी

× × ×

म्हारी लाडली ऊपर अंद्र गाजै,
म्हारी लाडली ऊपर छत्र छाजै,

'बीरा' गीत में बहिन का भाई के प्रति प्रेम और भाई की निर्धनता तथा तज्जनित संकोच का चित्रण मिलता है। 'बना' गीत नारी के उस हृदय का

परिचायक है, जो सौंदर्य पर लुभा जाता है और फिर उसके सतत सान्निध्य की आकांक्षा रखता है—

वनाजी थांका वांदण का चीरा मैं पेंचा होई रै'स्यां।
वनाजी थाँका म्हावा का दुकड़्या मैं मंछी होई रै'स्याँ।

'रामचरितमानस' में राम, सीता और लक्ष्मण को देखकर ग्राम-वधूटियों ने ऐसे ही हृदय का परिचय दिया है।

दाम्पत्य जीवन के गीतों में स्वकीया भाव की प्रतिष्ठा है। परकीया भी 'भायली' या 'जोड़ावत' रूप में मिलती है, पर यहाँ वह सम्मानित नहीं; तिरस्कृत है। इसका आधार समाज-भाव की ठोस धुरी—वंश-प्रवर्तन की कामना है—

जोड़ावत म्हांकी थेंई मरजाज्यो जी,
म्हांकी परणी बंस वधावै।

'परणी' या स्वकीया के गीतों में पारिवारिक प्रतिष्ठा के साथ-साथ दाम्पत्य जीवन के स्निग्ध चित्र भरे पड़े हैं। दम्पती का वियोग ऋतु-मासों द्वारा चित्रित हुआ है। वियोग के कारण भी स्वाभाविक और नित्यप्रति के जीवन से उद्भूत हैं। ग्रीष्म की दुपहरी में नौकरी पर जा रहे पति से पत्नी कहती है—

खाँ चाल्यो रै, लोभी खाँ चाल्यो रै, प्यारा खाँ चाल्यो रै,
झगझगती दफैरी मैं खाँ चाल्यो रै।

इस गीत में 'खाँ चाल्यो' की तीन लयात्मक आवृत्तियाँ और तदनुगामी 'रै' सम्बोधन के प्रयोग तथा 'झगझगती दफैरी' द्वारा प्रस्तुत ध्वनि-विम्ब आदि मिलकर श्रोता के मन में गहरी व्याकुलता का संचरण कर देते हैं।

हाड़ौती के विविध त्योहारों से उसके अनेक गीत जुड़े हुए हैं। मधुमास में मनाये जाने वाले मदनोत्सव के प्रतीक गणगौर त्यौहार के गीतों में 'घूमर' गीत प्रसिद्ध है। यह एक प्रकार का सामूहिक नृत्य-गीत है, जिसमें स्त्रियाँ नाचती हुई गाती रहती हैं। यह गीत विना नृत्य के भी गाया जाता है। होली के गीतों में आनंद और मस्ती के भाव मिलते हैं। 'हीड़' के गीत कृषि-जीवन में वैलों की प्रतिष्ठा के प्रतीक हैं और ये ग्वालों द्वारा गाये जाते हैं।

हाड़ौती के गीतों में भक्ति-भाव की भी प्रतिष्ठा है। भक्ति के गीत साहित्यिक भक्ति-गीतों से इस दृष्टि से भिन्न हैं कि उनमें तो भक्ति का विकसित और विद्वानों द्वारा स्वीकृत रूप अपनाया जाता है, पर ऐसे गीतों में भक्ति के विकास-क्रम की सभी अवस्थाएँ सुनने को मिलती हैं। यहाँ भैरूजी, वालाजी थाकाजी, तेजाजी, गंगा आदि से लेकर कृष्ण और राम तक की भक्ति के गीत गाये जाते हैं। ऐसे गीतों में सती-ख्याड़ी के गीत लोक-जीवन से अधिक सम्बद्ध हैं। एक ख्याड़ी गीत में, जो अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होता है, देवी के सुंदर स्वरूप

और उसकी वरदायिनी शक्ति का सुंदर वर्णन मिलता है—

पग पड़ै न्हैना-मोटा सेऊ थारा,
थें टूट्यां फल पावसी।
सगल्यां गोत्यां को वंस वधाय,
माता थें टूट्यां फल पावसी।

हाड़ौती के लोक-गीतों में वात्सल्य, शृंगार और करुणा की मार्मिक अभिव्यक्ति मिलती है। हास्य, शांत और भक्ति रस भी अनेक गीतों में पाये जाते हैं। उपमा इनका प्रिय अलंकार है। उपमानों की सीमा लोक-मानस की पहुँच तक है। गीतों की अभिव्यक्ति में सरलता है, वक्रता नहीं है। वे यहाँ के लोक-मानस के दर्पण हैं।

लोकगाथा

हाड़ौती की लोक-गाथाएँ दो श्रेणियों में रखी जा सकती हैं—प्रथम वे, जो धर्म-भावना से सम्बद्ध है; और द्वितीय वे, जो वीर रस प्रधान हैं। 'तेजाजी' और 'हीड' प्रथम प्रकार के उदाहरण हैं और 'परथीराज की लड़ाई' दूसरे प्रकार का। प्रथम प्रकार की लोक-गाथाओं में भी वीररस मिलता है, पर गौण रूप से। इन गाथाओं का नायकत्व ऐसे पात्रों को मिला है जो लोक-जीवन को प्रभावित करने की सामर्थ्य रखते हैं। 'तेजाजी' गाथा का नायक ऐसा वीर पुरुष है जो गायों की रक्षार्थ और वचनों के निर्वाह-हेतु अपने प्राणों की बलि दे देता है। इस गाथा में समाज-परिवार के आदर्श भरे पड़े हैं। यही कारण है कि यह पूरे भादों मास में नियमित रूप से गाई जाती है। उसमें चरित्रों की स्थूल रेखाएँ उभरी हैं। गाथाओं की कथा का विकास और निर्वाह कथोपकथन-शैली में हुआ है। बीच-बीच में पुनरावृत्तियाँ हैं। 'बगड़ावतों की हीड' दीपावली पर गाई जाती है। यह आरंभ में प्रेम-कथा है, पर उत्तरार्द्ध में वीररस-प्रधान बन गई हैं। इस गाथा का विकास सहज ऐतिहासिक क्रम पर हुआ है। इस क्रम में दो नायकों की कथा मिलती हैं। पहली नियाजी और जैमती की प्रेमकथा है और दूसरी देवनारायण के त्याग और सेवा-भाव की कथा है। अलौकिकता से युक्त इस कथा का प्रणयन किसी कवि, हृदय से हुआ है। अतः उपमानों में 'लौकिक प्रयोग' मिलते हैं—

मूंगफल्यां-सी भाभी वांकी आंगल्यां, भूज्या चंपा की डाल।
पींडीयां वांको लगलगी, जांघां वांको मैदा की सी लोय—
आंख्यां वांकी आंवळा की फांक, ज्यांकी नाक सुवा की चूंच।

इस गाथा के लोक-कंठहार बनने का कारण उसमें व्याप्त रोमांस और भक्ति के भाव हैं।

'परथी राज की लड़ाई' मऊ के जागीरदार पृथ्वीराज के चरित्र से सम्बन्धित गाथा है। वह इस गाथा का नायक है तथा उद्दंड और धीरोद्धत है। वह अपने मामा से अकारण युद्ध करता है और उसे मार डालता है। उसके साहस और उत्साह अदम्य हैं। इस लोकगाथा में युद्ध का सजीव वर्णन मिलता है। नायक में विद्यमान उद्धतता और क्रोध उसे अपनी खींचण माँ से प्राप्त हुए हैं। भाव-चित्रण सम्बन्धी उक्तियों में कहीं-कहीं मार्मिकता एव व्यंग्य अत्यधिक मुखरित हुए हैं। वानड वेग के भय से त्रस्त पृथ्वीराज के लिए उसकी खींचण माँ का व्यंग्य अत्यन्त तीखा है—

हरी-हरी चूड़ियाँ परथीराज फैरजे, ओड़जे दखणी चीर।
लाड़ी वरणजे वान्ड़-वेग की, थँईं मऊ मैं देगो पुगाय॥

वर्णनों की सजीवता और उक्तियों की प्रभावपूर्णता इस गाथा की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं।

'राम नस्याण' या 'राम रसायण' गाथा में रामचरित की सामंती दृष्टि से व्याख्या हुई है। इसमें राम केवल सामंत ठाकुर या राजपूत रह गये हैं, उनका अवतारी रूप लुप्त है। कथा में नवीनता न होते हुए भी उसके विस्तारों में नवीनता है और भिन्न प्रासंगिक कथाओं की कल्पना किसी सुसंस्कारच्युत मस्तिष्क की उपज है, जैसे सीता-हरण के उपरान्त राम पूछते-पूछते किसी कोली जाति के व्यक्ति से उसका पता पूछ बैठते हैं तो उसका उत्तर है—

म्हांकी लुगायां तो म्हांकै गोडै, ते थांनै खांरै गमाई नार।

इसी प्रकार लक्ष्मण का सीता के प्रति यह व्यंग्य भी फूहड़ मस्तिष्क की उपज होने से तिरस्करणीय है—

सीता तो सरीखी दादा भाई वारज्या, थें असी कतनी लाया नार।

हीरामनजी, रुकमणीजी को व्यावलो आदि कतिपय छोटी-छोटी गाथाएँ है। गाथाओं को पुरुष-वर्ग गाता है, केवल अन्तिम दो स्त्रियों द्वारा गाई जाती हैं। समस्त गाथाएँ ऐतिहासिक घटनाओं और पात्रों से सम्वद्ध हैं। इनमें लोक-गाथाकारों ने इतिहास को अपने अनुकूल ढालकर उपयोगी वना लिया है।

लोक-कथा

हाड़ौती की कहानी बालकों और वृद्धों के बीच सुनने-सुनाने की परम्परा से गुज़रकर आज भी अपनी स्थिति वनाये हुए है। उनमें मनोविनोद, कौतूहल व विस्मय के अतिरिक्त उपदेशात्मकता को मी स्थान मिला है। राजा-रानी, साधु-सन्यासी, चोर-डाकू, देवी-देवता, ठग-ठगिनी आदि नायक-नायिकाओं से सम्वद्ध ये कहानियाँ कथातत्त्व के आकस्मिक विकास और परिणाम को अपने में सहेजकर चलती हैं। आश्चर्यतत्त्व उसका मेरुदण्ड है। अलौकिक

तत्त्व उन्हें समय-समय पर संभालता चलता है तथा उसे सुखद परिणाम की ओर अग्रसर करता है। कथातत्त्व के अतिरिक्त ऐसी कथाओं का आकर्षण वक्ता की कथन-शैली में होता है। चरित्र-चित्रण के अभाव में भी वक्ता का कथन-कौशल उन्हें मार्मिक और आकर्षक बनाये रखता है।

विभिन्न ग्रहों या देवताओं से सम्बन्धित कथाएँ स्त्री-जाति में विशेष प्रिय हैं। भाईदूज, गणेश, आठ सौभागवती, नाग पांचे आदि की कथाओं में विभिन्न देवताओं के व्रत-उपासना के महत्त्व का प्रतिपादन मूल विषय रहता है। नायक अनेक बार विपत्ति-ग्रस्त होता है और व्रत-उपासना के द्वारा उसे मुक्ति मिलती है। पारिवारिक-सामाजिक लोक-कथाओं में समाज की विद्रूपताएँ उभरती हैं। सौत, सास,-बहू, देवरानी-जिठानी, भाई-भाई, भाई-बहन, पिता-पुत्र के सम्बन्धों को लेकर चलने वाली इन कहानियों में कोई-न-कोई ऐसा उद्देश्य रहता है, जिससे परिवार-समाज का सुचारु ग्रंथन हो सके। आर्थिक-व्यावसायिक छल-प्रपंच भी ऐसी कहानियों में मिलते है। बाल-कौतूहल और मनोविनोद की दृष्टि से कही जाने वाली कहानियाँ पशु-पक्षी-जगत् से भी बनती है। ऐसी कहानियाँ 'पंचतंत्र' और 'हितोपदेश' की परम्परा में आती हैं। इन कथाओं में यह बात अवश्य ध्यान में रखी गई है कि पशु या पक्षी-विशेष अपनी प्रकृति से प्रतिकूल न जा पाये। ठगों की कथाओं तथा तिलस्मी कथाओं में विस्मय और कौतूहल अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं। राजा विक्रमादित्य अनेक कहानियों के नायक बनकर अनेक पहेलियों और उलझनों को सुलझाते दिखाये गये है। इसी प्रकार ठगों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा में प्रदर्शित चातुर्य-प्रतियोगिता आश्चर्यजनक होती है।

लोक नाट्य

हाड़ौती लोक-नाटक उस नाट्य-परम्परा के हैं, जो साहित्यिक नाटकों के उदय से पूर्व देश में प्रचलित रही होगी। इन लोक-नाटकों में उनकी चेतना उनके कथातत्त्व में न होकर अभिनय तत्त्व में विद्यमान है। ऐसे नाटकों की कथाएँ या तो धर्म-भावना से प्रसूत होती हैं या उनमें शृङ्गारिता और वीरता को स्थान मिलता है। ऐसे नाटकों को क्रमशः 'लीला' और 'खेल' में विभक्त किया जा सकता है। लीलाओं में भगवान के अवतार धारण करने की कल्पना है और खेलों में नायक राजा की स्त्री-आसक्ति और युद्ध के वर्णन मिलते हैं। ऐसे कथानक वीरगाथाओं की परम्परा में आते हैं। पुराणों के आधार पर रचित लीलाएँ हैं, जिनमें भगवान द्वारा भक्त की परीक्षा ली जाती है और उसमें खरा उतरने पर उसको भगवान दर्शन देते हैं। 'रामलीला' पूर्णरूपेण 'रामचरित मानस' के आधार पर लिखी गई है। 'गोपीचन्द लीला' में परीक्षा-क्रम के उपरान्त ईश्वर-दर्शन की बात नहीं मिलती। 'खेलों' में नायिका के प्रति नायक की आसक्ति

और फिर उसे प्राप्ति का यत्न मिलता है। तत्पश्चात् प्राप्ति-बाधाएँ दिखाई जाती है। उन्हें नायक पार करता है और नायिका को प्राप्त कर लेता है। खेवरां, रंज्या-हीर, ढोला-मरवण, फूलांदे इसी प्रकार के कथानक पर आधारित है।

चरित्र-चित्रण में पात्रों की जातिगत विशेषताएँ ही मिलती है, व्यक्तिगत विशेषताएँ अत्यल्प उभर पाई हैं। चरित्रों की स्थूल रेखाओं का ही उभार नाटकों में मिलता है। उन्हें देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि पात्रों का यत्किंचित् चरित्र-चित्रण वस्तु-निर्वाह के लिए ही होता है। कथोपकथन नपे-तुले होते हैं। निश्चित पद्यसंख्या में प्रत्येक पात्र बोलता या गाता है। घूम की तान (स्वगत कथन) नाटकों में मिलती हैं जो पात्र के आरम्भिक परिचय या उसकी मनोदशा की अभिव्यक्ति के लिए उपयोग में आती हैं। समस्त नाटकों में संगीत का निर्वाह एक निश्चित शैली में मिलता है, जिसे 'डोहे' (दोहे) में बाँधा गया है। 'रामलीला' का संगीत तनिक भिन्न है। उसके दोहे ढाई कड़ी (पंक्ति) के होते हैं; जबकि शेष नाटकों के दोहे दो पंक्तियों के होते हैं। गायन-शैली भी 'रामलीला' की शेष नाटकों से भिन्न है। हाड़ौती लोक-नाटकों का अभिनय या तो खुले आकाश के नीचे होता है या किसी वितान के तले। रंगमंच के लिए एक तख्त या चबूतरा पर्याप्त है। किसी पर्दे का यवनिका रूप में उपयोग नहीं होता है।

'रामलीला' का आधार रामकथा है और उसे तुलसी के 'रामचरित मानस' के आधार पर लिखा गया है। 'गोपीचन्द लीला' में भर्तृहरि के उपदेश पर गोपीचन्द को विरक्ति हो जाती है, तब उसकी पुष्टि के लिए उन्हें अपनी माँ, बहिन, रानी आदि से भिक्षा-याचना करनी होती है। लीला में नायक गोपीचन्द के वियोग से पीड़ित नायिकाओं—रानियों की प्रतिनिधि स्वरूपा पटरानी ममणावती की विरह-वेदना का मार्मिक चित्रण मिलता है। वहाँ कथोपकथन में मार्मिकता है जो सीधे हृदय पर चोट करते हैं। 'मोरधज लीला' का पूर्वार्द्ध तो काल्पनिक है, पर उत्तरार्द्ध 'जैमिनीयाश्वमेध पर्व' पर आधारित है। नायक तथा नायिका की धार्मिक दृढ़ता की परीक्षा कृष्ण और अर्जुन तापस गुरु और शिष्य-वेश में लेते हैं, जिसमें नायक मोरध्वज और उनकी पत्नी पद्मावती द्वारा अपने पुत्र को स्वकरों से आरे द्वारा चीरने का दृश्य अत्यन्त करुणाजनक तथा हृदय-द्रावक हैं। 'फैलाद लीला' की कथावस्तु 'भागवत' पर आधारित है। भक्त प्रह्लाद के भक्तिमार्ग की विघ्न-बाधाओं के विस्तृत विवरण के अंत में नृसिंह का अवतरित होना और उसके पिता हिरणकशिपु का वध करना—के पौराणिक प्रसंग को 'लीला' में यथावत् स्वीकार किया गया है। केवल विस्तारों में तनिक परिवर्तन है। 'रुकमणी मंगल' वैसे तो शृङ्गाररस प्रधान रचना है, पर हाड़ौती लोक-जीवन में इसे 'लीला' में स्वीकृति मिली है, क्योंकि भगवान कृष्ण उसके नायक हैं।

और वे रुक्मिणी से, जो उन्हें सच्चे हृदय से प्यार (भक्ति) करती है, अपना परिणय स्थापित करते हैं। इसकी कथा का आधार 'भागवत पुराण' है। इस प्रकार 'लीला' नाटकों को 'भागवत' 'ने प्रेरणा और आधार दिये हैं।

खेलों में 'ढोला मरवण' की कथा राजस्थान की प्रसिद्ध लोक-कथा है, जिसने अनेक साहित्य-रूपों में अपना स्थान बना लिया है। नाटक का नायक ढोला है, जो किसी रेवा नाम की खलनायिका के प्रेमपाश में बँध जाता है। नायिका मरवण के प्रयत्नों से उसे मुक्ति मिलती है। 'रंज्याहीर' पंजाब की प्रसिद्ध प्रेम-गाथा 'हीर राँझा' पर आधारित है, जिसमें वर्णित प्रेम 'इश्क हकीकी' के अन्तर्गत आता है। इसकी कथा-योजना इस प्रकार हुई है, कि उसमें रहस्यात्मकता आ गई है। सूफी संतों की प्रतीक-पद्धति का इसमें निर्वाह हुआ है। बीरबल गुरु रूप में आकर रंज्या (साधक) को हीर (ईश्वर) की प्राप्ति का मार्ग दिखाता है और नायक अनेक विघ्न-बाधाओं को पारकर उसे प्राप्त कर लेता है। 'फूलांदे' का नायक केसरी सिंह अपनी भाभी द्वारा फूलांदे की रूप-प्रशंसा सुनकर उस पर आसक्त हो जाता है और ठगिनी के मायाजाल से छूटकर अन्त में उसे प्राप्त कर लेता है। 'खेंवरा' में नायक की आवलदे के प्रति आसक्ति और तत्पश्चात् युद्ध के उपरान्त उसकी प्राप्ति दिखाई गई है। यह नाटक अत्यन्त प्रचलित और प्रसिद्ध है।

कहावतें

हाड़ौती कहावतों में इस क्षेत्र के लोक-जीवन के संचित अनुभव का परिचय मिलता है। वे जीवन के हर पहलू से सम्बन्धित है। कृपक-जीवन, परिवार-समाज-जीवन, धर्म और नीति, इतिहास, शिक्षा, ज्ञान आदि के सभी क्षेत्रों में उनका प्रसार है। शिक्षित व्यक्तियों में विद्वानों की सूक्तियाँ ढाल और तलवार का काम करती हैं और ग्रामीणों में भी कहावतें इसी प्रकार काम में आती है और उसके जीवन का संबल बनकर उसे संभाले रहती है।

हाड़ौती कृपि-प्रधान भू-भाग है। कहावतें यहाँ के प्रमुख व्यवसाय कृपि के लिए निर्देशिका का कार्य करती हैं। उसमें वर्पा-विज्ञान का अनुभव संचित है—

(१) पून्यू पड़वा गाळै, दन बहत्तर टाळै।
(२) आभा राता, मे' ताता।
आभा पेळा, मे' सेळा।
(३) वरसै भरणी, छोड़ो परणी।

लोक-जीवन की भाग्यवादिता कृपि के कर्मक्षेत्र में भी उसका पीछा नहीं छोड़ती—

करम हीण खेती करै,
बैल मरै, कै सूखो पड़ै ।

सामाजिक क्षेत्र में कहावतों का बड़ा योगदान रहा है। उन्होंने जातीय विशेषताओं का विश्लेषण किया है, सामाजिक समानता स्थापित की है और पारिवारिक एकता पर बल दिया है। 'मूंग से मूंग बड़ो कोईनै' कहावत में लौकिक धरातल पर व्यक्ति-समानता का प्रतिपादन है और 'आत्मा सो परमात्मा' में समानता का प्रतिपादन आध्यात्मिक आधार पर हुआ है।

यद्यपि इन कहावतों में श्रेय-मार्ग को ही व्यक्ति के लिए श्रेयस्कर बतलाया है, पर प्रेय-मार्ग की झलक और उसका विश्लेषण भी इनमें मिलता है। इस प्रकार हाड़ौती कहावतें जीवन के उभयपक्ष को— लोक-परलोक को दृष्टि-पथ में रखकर चलती हैं। उनमें जो विरोध दिखाई देता है, वह दृष्टि-भेद-जनित है—

(१) सांचई आँच कोईनै ।
(२) करो पाप तो खावो धाप ।

कहावतों के निर्माण में निर्माताओं की दृष्टि स्थानीय घटनाओं और स्थानों पर भी गई हैं। इसलिए 'अणता की गूंण फलायथै पटकबो' या 'हाड़ा खींची को वैर होबो' आदि उनके निरीक्षण-क्षमता से प्रकट हैं।

पहेली

हाड़ौती का पहेली-साहित्य ठेठ ग्राम-जीवन की गहराई और विस्तार से निकला है। इसलिए उसमें उसके हर पक्ष का चित्रण और वर्णन है और उसके मनोविकास का स्वरूप भी। जिन वस्तुओं को लेकर पहेलियों का निर्माण हुआ है वे अधिकांश में नित्यप्रति के व्यवहार की हैं—चाहे वे व्यवसायगत हों या गृहगत। 'तवे' को लेकर कही गई इस पहेली में सरलता और स्पष्टता है—

बारा आया पावणा, रोटी पोई एक,
जतना का जतना जीमग्या, रोटी रैगी एक ।

इनका रचना-विधान सूक्ष्म आधारों पर हुआ है। विभिन्न मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर इनमें अप्रस्तुतों का विधान हुआ है। कहीं सादृश्य है तो कहीं विरोध। विरोध पर निर्मित एक पहेली देखिए—

बना पगाँ को डावड़ो, तळाब न्हावा जाय,
न्हाव न्हूव घरणै आयो, बैठयो खूण्याँ बीच ।

बाल-पहेलियों का रचना-विधान सरल है और उनमें कौतूहल की व्याप्ति है—

छोटी सी टमटी, टमटम करै,
लाख रुप्यां को वणज करै । (दवात)

इस प्रकार हाड़ौती लोक-साहित्य काफी समृद्ध है। उसमें जीवन-जगत् के विशाल अनुभव संचित है। वह भारतीय सांस्कृतिक अखंडता का परिचायक है और लोक-जीवन की उस साधना का परिचायक है जो अपने अकर्त्तृत्व में भी क्रियाशील रहती है। उसमें जीवन का उपयोगी सत्य भी प्रकट हुआ है और 'सुन्दरम्' भी अभिव्यक्ति पा सका है। इसीलिए उसमें वह शक्ति है कि जब देश की ग्रामीण सभ्यता मरणोन्मुख है, तब भी वह अपनी चेतना संजोये हुए है और अपने संकलन और संरक्षण के लिए विद्वानों को आमंत्रण दे रहा है।

हाड़ौती काव्य में वीररस

हाड़ौती का लोक-काव्य उसके लोक-जीवन का सच्चा प्रतिबिम्ब है। यहाँ राजस्थानी काव्य के समान ही शृंगार और वीर रसों का सुन्दर संयोग घटित हुआ है। हाड़ौती बोली को साहित्यिक भाषा बनने का सम्मान न प्राप्त होने पर भी यहाँ के लोक कवियों ने उसी में वीररस के गीत गाये हैं। ऐसे गीत काल्पनिक अनुभूतियों पर आवृत न होकर यथार्थ की भूमि पर खड़े हैं।

वीररस का स्थायी भाव उत्साह है; जिसमें साहसपूर्ण आनन्द की उमंग पाई जाती हैं। इसे युद्धवीर के अतिरिक्त दानवीर, दयावीर और धर्मवीर रूपों में भी देखा जा सकता हैं। ऐसे सभी वीरों में स्वकर्मों के प्रति ऐसी उमंग दिखाई देती है जो कर्मपथ को आनन्दमय बनाती चलती है। हाड़ौती के काव्य में स्थानीय और राष्ट्रीय स्तर के वीरों को स्थान प्राप्त हुआ हैं। क्योंकि राजस्थान की भूमि वीरप्रसूता है अतः हाड़ौती में युद्धवीरों की कमी नहीं हैं। हाड़ौती काव्य में ऐसे वीर चित्रित हैं, जिनका उत्साह अदम्य था। उन्हें देखकर यह कहना पड़ता है कि यदि देश के अमुक युद्ध में अमुक सेनापति के स्थान पर वे होते तो उसका परिणाम ही भिन्न निकलता।

'परथीराज' के कड़े का नायक पृथ्वीराज ऐसा ही वीर है; जिसके जीवन-चरित को लेकर हाड़ौती-बोली में किसी नाथू नामक व्यक्ति ने लोक-गाथा की रचना की है। इस वीररस-प्रधान काव्य का नायक पृथ्वीराज मऊ का छोटा-सा जागीरदार है। 'खींचरण माँ' से उत्पन्न वह युवक काळ्या भील, खैराबाद के मीनों, गुजरात के सामन्त, अपने मामा—घाटी के रावजी तथा जयपुर के राजा मानसिंह से युद्ध करता है। युद्धों में वीररस की अभिव्यक्ति होती आई है। युद्धों के वर्णनों में कभी-कभी कवि शत्रु पक्ष को निर्बल बतला देते हैं और नायक का पक्ष प्रबल होता है। ऐसी दशा में नायक के उत्साह का सच्चा और प्रकृत रूप सामने नहीं आ पाता है। पृथ्वीराज के पास भील और मीनों की एक छोटी-सी सेना है और घाटी के रावजी के पास युद्ध-व्यवसायी विशाल क्षत्रिय-सेना है, जिससे उसे मोर्चा लेना पड़ता है। इस पर भी एक सच्चे वीर की भांति

पृथ्वीराज रावजी को प्रथम प्रहार करने का अवसर देकर पुनः प्रहार करने को कहता है—

म्हूँ तो कऊँ छूं मामाजी फेर वालो रै ज्यागी मनकै मांइ।
खैंच धमोड़ूं रूळता सेल की मामी नै कर दूं रांड।

'हे मामा जी, मैं आपसे कहता हूँ कि आप पुनः प्रहार कर लीजिए अन्यथा आपके मन में ही रह जायगी कि मैं प्रहार नहीं कर सका। मैं तो अपनी वारी में अपने तीक्ष्ण माले का ऐसा विकट प्रहार करूँगा कि अपनी मामी को विधवा कर दूँगा।'

यदि शास्त्रीय दृष्टि से इस कथन का विश्लेषण करें तो रावजी आलम्बन है। उनका पराक्रम, प्रहार आदि उद्दीपन है। पृथ्वीराज की गर्वोक्तियाँ अनुभाव है तथा 'गर्व', 'धृति' आदि संचारी हैं। इस प्रकार 'उत्साह' स्थायी ध्वनित है। यहाँ वीररस की निष्पत्ति की पूर्ण सामग्री विद्यमान है।

युद्ध का सजीव वर्णन जितना नाथू कर पाया है उतना वहुत कम देखने में आता है। चन्दा और ढोला के वीच में युद्ध हो रहा है। दोनों वड़े वलवान हैं। दोनों की सेनाओं में घमासान युद्ध हो रहा है—

दोनी दळां मैं वाजा हद वाज रया दोनी वुवारै खेत।
दळ का माँझी दोनी मल्हावरया यामैं कुण पांडू कुण केत।
घर्र-घर्र तो तोपां घग्घार करै ऊँटां पै ववै जम्बूर।
खाँडो ववै छै ढोला परधान को चन्दा का दळ कै मांइ।
आज धरा पै चमकै वीजळा काळा वादळ मांइ।
खाँडो चमके छै चन्दा का हाथ को पीथा का दळ मांइ।
तरवार्‌यां की तीळ उडै, वग़तर कट-कट जाय।
सूरा कटै छै जी रण खेत मैं, वांको मांस कागला खाय।
खचक-खचक तो माला वोल रया, छपक-छपक तरवार।
सूरा कटै छै रण का माइनै, यांको अन्त न आवै पार।

'दोनों सेनाओं में वाजे वज रहे हैं और दोनों ओर भयंकर मारकाट मच रही है। दोनों दलों में भयंकर युद्ध हो रहा है। कहा नहीं जा सकता कि इनमें कौन तो पांडव है तथा कौन कौरव है? तोपें घर्राट करती चल रही हैं और ऊँटों की पीठ पर से छोटी तोपें दागी जा रही हैं। प्रधान सेनापति ढोला की तलवार चन्दा की सेना के मध्य में प्रलय ढाती जा रही हैं। जैसे पृथ्वी पर ही काले वादलों के वीच में विजली चमक रही हो; ऐसे चन्दा के हाथ की तलवार भी पृथ्वीराज की सेना में ऐसे चमक रही है। तलवारें खट् खट् चलती जा रही हैं और कवच कटते जा रहे हैं। अनेक वीर योद्धा गिर रहे हैं जिनका मांस कौए खाते जा रहे हैं। मालों के प्रहार से 'खचक-खचक' की ध्वनि आ रही है और

तलवारों के प्रहार से 'छपक्-छपक्' की ध्वनि आ रही। इतने अधिक शूरवीर मर रहे हैं कि जिनकी कोई सीमा नहीं है।'

हाड़ौती के एक अन्य काव्य में वीररस की सुन्दर निष्पत्ति हुई है। 'तेजाजी' का प्रधान रस वीर ही है। नायक की वीरता प्रथम के समान संकुचित उद्देश्य से प्रेरित नहीं है, पर-दुःख-निवारण ही इनको प्रेरित करता है। तेजाजी अपनी ससुराल जा रहे है। उन्हें मार्ग में शकुन अच्छे नहीं होते। गाँव से निकलते ही तो काले घड़े लिए पनिहारी मिल जाती है; कुछ आगे बढ़ने पर काले बैलों से हल जोतता किसान मिल जाता है और आगे बायीं ओर कोचर मिल जाती है। पर एक सच्चे वीर की भाँति वे उन अपशकुनों की चिन्ता नहीं करते और उन्हें शक्ति के बल पर अनुकूल बनाते चलते है। अतः तेजा जी कहते हैं—

बायाँ सूं जीवाँ आ जावै नै री कोचर राणी,
न तो दूंगूं मळका की, बखेरूँ थारा पाँखड़ा।

'हे कोचर रानी, बायें से दायें आ जा, अन्यथा भाले से तेरे पंख बिखेर दूंगा।'

सच्चा वीर प्रकृति की बाधाओं को अपने अदम्य उत्साह के सामने कुछ नहीं गिनता, अपितु उनसे उसका उत्साह और अधिक बढ़ जाता है। उसकी 'धृति' कठिन-से-कठिन परिस्थितियों में भी उसका साथ नहीं छोड़ती। तेजा जी मार्ग में जा रहे हैं कि मार्ग में बनास नदी पड़ गई। वर्षा का समय था, नदी में प्रवाह उमड़ रहा था और उन्हें नाव भी न मिल सकी। वे अपनी घोड़ी को नदी में डाल देते हैं, क्योंकि ऐसे वीर आगे बढ़कर पीछे हटना नहीं जानते। कोई चिन्ता नहीं परिणाम चाहे जो हो, पर कुल की प्रतिष्ठा नष्ट नहीं होनी चाहिए।

अपनी ससुराल जाते हुए तेजाजी एक सर्प द्वारा स्वय को कटवाने के लिए वचन दे आये थे, पर माना गूजरी के काले बछड़े को मीनों से छुड़ाकर लाने में उनका शरीर सवा मन लोहे से भर गया और माना गूजरी उनके उपचार की व्यवस्था कराने का निवेदन करने लगी, तो उन्हें सर्प के दिये वचनों की 'स्मृति' हो आयी—

लख्या लेख गोडा आग्या छै री गूजर की माना।
बाचा चूकँगा काळा की भूरी बामल्यां।

'हे गूजर की माना, लिखे हुए लेख (मृत्यु) निकट आ गये हैं; यदि मैं समय पर सर्प के पास नहीं पहुँचा तो अपने वचनों को चूक जाऊँगा।'

वीररस की सुन्दर निष्पत्ति 'रामलीला' में भी देखी जाती है, जिसमें राम-रावण के युद्ध में राम का अदम्य उत्साह दर्शनीय है। रावण कहता है, 'हे दुष्ट, मैं तेरा नाम खो दूंगा और तुझे देवी के चढ़ा दूंगा। तू सामने तो आ, तुझे वास्त-

विकता का बोध हो जायगा।' तो रामउत्तर-स्वरूप कहते हैं—

धारूं धनस कुवाण हाथ मैं लेलूं थारा प्राण।
सूरज कुल को दुख दियो वहोत।
छळ कै लाया जनक नन्दनी मनमैं आवै जोस।

'मैं धनुष-बाण हाथ में ग्रहण करके तेरे प्राण ले लूंगा। तूने सूर्य-कुल को बहुत दुःख दिया है। तू जनकसुता का हरण कर लाया। मेरे मन में जोश उमड़ रहा है।'

यहाँ रावण आलम्बन है। रावण का कथन तथा उसका पराक्रम उद्दीपन है। राम का धनुष-बाण धारण करना उनकी गर्वोक्तियाँ अनुभाव हैं और 'स्मृति', 'गर्व' तथा 'धृति' आदि संचारी हैं। इस प्रकार 'उत्साह' स्थायी ध्वनित होकर वीररस की निष्पत्ति करता है।

वीररस प्रधान ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं जिनमें प्रधान रस शृंगाररस है और वीर-रस गौण है। 'खेमरा', 'रंज्या हीर', 'रुक्मणी मंगल' आदि ऐसी लोक-नाट्य रचनाएँ हैं। 'खेमरा' में बाला के ललकारने पर खेमरे का उत्साह अधिक बढ़ जाता है। वह भी इस प्रकार गर्वपूर्ण शब्द कहता है—

सीस ऊडादूं हाथ सूं सरै कांईं सामूं आवै।
सूरो होतो लड़ै सामनै कांईं पीठ वतावै।
असी धमोडूं सेल को र थू पड़्यो-पड़्यो वरळावै।
ववै सरोई थारै ऊपर, लोथ गंडकड़ा खावै।

'मैं तेरा सिर काट डालूंगा। तू सामने क्यों नहीं आता है यदि तू शूरवीर है तो सामने लड़, पीठ क्यों दिखलाता है? मैं तुझ पर भाले का ऐसा विकट प्रहार करूँगा कि पड़ा-पड़ा चिल्लाया करेगा और जब तेरे ऊपर मेरी तलवार चल जायेगी तो तेरे शव को कुत्ते खायेंगे।'

राजस्थान की वीरता में स्त्रियों का विशेष हाथ रहा है। एक ओर तो वे अपने सतीत्व की रक्षा करने के लिए जौहरव्रत को अपनाकर पुरुषों के घर-सम्बंधी मोह और चिन्ता को हटाती रही हैं तथा दूसरी ओर जब कभी पुरुषों ने तनिक भी कायरता दिखलाई है तो उनकी वीरतापूर्ण व्यंग्योक्तियों ने पुरुषों में ऐसा उत्साह फूंका है कि वे अपना वास्तविक सिंह-रूप पहिचान सके हैं। पृथ्वीराज गुजरात में छापा मारकर लूट का माल लेकर मऊ आ रहा है। मार्ग में बानड़वेग मिल जाता है और पृथ्वीराज का मार्ग रुद्ध कर देता है। उसे मऊ में लौटने नहीं देता। पृथ्वीराज परिस्थिति को अवगत कराते हुए अपनी माँ को पत्र लिखता है, पर माँ का उत्तर तो दूसरे ही प्रकार का होता है—

उलटा ई कागद लखण्या फेर लखजे जीमें लखजे ज्याव।
बेनड़ दीजे थारा पूठ की, थईं मऊ मैं देगो पुगाय।

हाथी तो दीजे थारा चढण को रुप्यां सूं नारेळ ।
वैनड़ तो दीजे थारा पूठ की, जीजा जी खैं बतळाय।
हरी-हरी चूड़्याँ तो परथीराज फैरजे, ओडजे दखणी चीर।
लाडी बणजे वानड़ बेग की थई मऊ मै देगो पुगाय ।

'हे लिपिक, तू इस प्रकार उत्तर लिख दे कि यदि वानड़वेग तुझे मऊ नहीं आने देता है तो तू अपनी छोटी वहिन का विवाह उससे कर दे जिससे वह स्वयं तुझे सुरक्षित मऊ पहुँचा देगा। तू अपने चढ़ने का हाथी तथा रुपया-नारियल भेंट करके अपनी छोटी वहिन का विवाह उससे कर दे तथा उसे 'जीजा जी' कह कर सम्बोधन कर, या फिर 'तू हरी-हरी चूड़ियाँ धारण कर ले तथा दक्षिणी साड़ी पहिन ले और इस प्रकार सुसज्जित होकर वानड़वेग की वधू बन जा तो वह तुझे मऊ में पहुँचा देगा।'

हाड़ौती का काव्य न केवल युद्धवीरों के प्रसंगों से भरा पड़ा है; उसमें दान-वीरता के भी सुन्दर प्रसंग आए हैं। 'मोरधज लीला' का प्रधान रस (दान) वीर ही है। दानवीरता में त्याग की उमंग परिस्थिति की विकटता के साथ बढ़ती जाती है और आश्रय का साहसपूर्ण आनन्द प्रकट होता जाता है। ऐसी वीरता का श्रेष्ठ उदाहरण अपनी प्रियतम वस्तु के उत्सर्ग पर प्रस्तुत होता है। धन-दौलत और राजपाट के त्याग के उदाहरण तो समाज में अनेक मिल जाते है, पर अपने पुत्र को उमंग के साथ साधु वेशधारी कृष्ण और अर्जुन के सिंह को आरी से चीरकर खिलाने-जैसी वीरता हाड़ौती नाटक 'मोरधज लीला' में ही चित्रित हुई है, वह अपना सानी नहीं रखती। पुत्र-वत्सलता जितनी स्त्रियों में मिलती है उतनी पुरुषों में नहीं। अत: जब रानी अपने पति मोरधज से यह कहती है—

रतन कंवार नै चीर नीरदाँ, नाईं कराँ वच्यार।
सायब का सत ऊपरै सजी, सबका सिरजन हार।

(अपने पुत्र रत्नकुमार को चीरकर सिंह को अचिन्तित भाव से डाल दें क्योंकि सत्य के ऊपर ही परमात्मा विद्यमान है।) तब दानवीरता का ऐसा सुन्दर उदाहरण देखने को मिलता है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। मोरधज की दानवीरता में उसकी पत्नी का सहयोग मणिकाँचन का संयोग है।

हाड़ौती में वीररस के अन्य प्रकार भी मिल जायेंगे। लोक-कवियों ने उत्साह की अत्यन्त सरलता से व सफलता से हाड़ौती काव्य में व्यंजना की है। यह भिन्न बात है कि परथीराज का कड़ा में नायक खलतायुक्त है। वह खलनायक-सा लगता है। अत: रस निष्पत्ति खंडित है क्योंकि आलम्बन औचित्यपूर्ण नहीं है। पर हाड़ौती के लोक-कवि ने जो देखा या अनुभव किया उसे पूरी सचाई से व्यक्त कर दिया है। इसलिए इसके अनगढ़ साहित्य में कलाकारिता की उत्कृष्टता नहीं मिलेगी, पर कथ्य की सचाई से वह विरहित नहीं है।

हाड़ौती के विरह-गीत

लोकगीतों की परम्परा एक युग से चली आ रही है। जब साहित्यिक गीत न थे तब भी वे लोक-जीवन में समाये हुए थे। काल के प्रवाह के साथ संतरण करते हुए ये गीत लोक-जीवन के साथ इतने चिपके बैठे हैं कि हम यह भी नहीं खोज सकते कि जीवन का कौन-सा पहलू इनसे अछूता है। साहित्यिक गीतों ने भले ही हमारे जीवन के कुछ रूपों को देखा हो, पर लोकगीत तो हमारी प्रत्येक भावना के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किये हुए हैं।

हाड़ौती प्रदेश के लोकजीवन का जितना विस्तार है उतना ही विस्तार इन लोकगीतों के विषयों का भी है। वे उसके प्रत्येक कोने को झांकते प्रतीत होते हैं। जहाँ तक पुरुष भावों का सम्बन्ध है, स्त्रियों ने उन्हें पुरुषों के लिए छोड़ दिया है। स्त्रियों ने तो कोमल भावों के क्षेत्र में ही अपने मधुर कण्ठ से गुंजन किया है। क्या शृंगार, क्या करुण, क्या हास्य—सभी क्षेत्रों में वे झांक आई हैं। शृंगार के संयोग-पक्ष में तो उन्होंने उतनी तत्परता नहीं दिखलाई; पर विरह गीतों ने उनके मानस में अनेक तरंगे उठाई हैं। हाड़ौती प्रदेश की स्त्रियों का प्रेम लोक में प्रतिष्ठित है—

"गोखड़ला के बीच कांई जी खड़ा छो
मोती-हार पोवां छा।"
मोती-हार पोवतां गोरा राईवर ने देख्या
"लड़वण आग्रो न उरा सा।"
"म्हूँ तो कस्यां आऊं जी म्हारा राइवर,
म्हारा बावाजी, दादाजी ऊभा छै।"

इस गीत में कोई नायिका अपनी सखी को वे बातें बता रही है जो पति-पत्नी में परस्पर हुई थी। पति ने पूछा—प्रिये, ड्योढ़ी पर खड़ी तुम क्या कर रही हो तो पत्नी ने उत्तर दिया—मोती-हार गूंथ रही हूँ। और पति ने देखा कि वह मोती-हार बना रही है। उसने फिर कहा—हे प्रेयसी, तनिक निकट तो आओ। प्रत्युत्तर में पत्नी ने कहा कि प्रियतम, मैं कैसे आऊँ, क्योंकि मेरे दादा-

मिता आदि खड़े हैं। इसी प्रकार उत्तर-प्रत्युत्तर में गीत बढ़ता है।

इन लोक-गीतों में स्वकीया नायिका के विरह के जितने गीत हैं, परकीया नायिका के विरहगीत अपेक्षाकृत कम हैं। उनका दाम्पत्य-जीवन इतना अनुभूति-पूर्ण और पवित्र रहा है कि उसके संयोग-वियोग स्वतः ही गीत के विषय बन गये हैं। साहित्यिक गीतों में पुरुष कवियों ने परकीया नायिका के विरह के अतिरंजनापूर्ण चित्रों की सृष्टि की है, पर हाड़ौती के लोकगीतों में, जो स्त्रियों की स्वानुभूति के गीत हैं, स्वकीया नायिका के विरह के सुन्दर चित्र भरे पड़े हैं। उनकी अनुभूति उधार ली हुई नहीं है।

लोक-जीवन में विरह के अवसर नित्य-प्रति आते रहते हैं। फाल्गुन मास की वसंत ऋतु आई हुई है; चारों ओर होली खेली जा रही है और नायिका के पति कोसों दूर किसी कार्यवश चले गये हैं तब उसका हृदय तड़पकर इस प्रकार फूट पड़ता है—

रुत फागण की आई,
होली मचै भड़ाका सूं।
वे गया राजन वे गया जी,
वे गया कोस पचास।
सर वदनामी ले गया रे,
खडीयन बैठ्या पास।

होली के अवसर पर पचास कोस चले जाने वाले पति के लिए पत्नी का यह कथन कि 'जाते-जाते वे यह अपकीर्ति ले गये कि वे मेरे पास कभी नहीं बैठे,' कथन-शैली के चमत्कार के साथ ही नायिका के विरह की कितनी मार्मिक व्यंजना करता है। ऐसी ही मायके में रहने वाली स्त्री के लिए वसंत ऋतु अत्यन्त कठिन हो जाती है—

दाड़्यूं सूखै डागलै रै
घर सूखै कचनार।
गोरी सूखै बाप कै रै,
ऊं पूरस की नार।

'जिस प्रकार छत पर अनार सूख रहे हैं तथा घर पर कचनार के पुष्प सूख रहे हैं उसी प्रकार ऐसे पति की पत्नी पति के अभाव में अपने पिता के यहाँ सूखती चली जा रही है।' उसे तो वहाँ खाना-पीना भी ठीक ही मिलता है। उसके यहाँ श्रेष्ठ भोजन चावल मूँगों को बनी खिचड़ी, जो घी-पूरित है, मिलती है तथा और भी अनेक सुख उसे प्राप्त हैं, किन्तु पति के बिना उससे वहाँ रहा नहीं जाता—

चावल मूंगां की खीचड़ी रै,
घी बना खायी न जाय।
सब सुख म्हारा बाप कै रै,
पी बना रयो ही न जाय।

बसन्त में तो उसके पति नहीं आये, यद्यपि वह उनका स्वागत करने के लिये प्रस्तुत थी और उधर ग्रीष्म ऋतु आ गई है। अवधि की दीर्घता के साथ उसकी वेदना बढ़ गई है। अतएव वह धूप से प्रार्थना करती है कि तू अधिक मत तपना, अन्यथा वे मेरे कोमलांग पति नहीं आ सकेंगे—

तावड़ा मंदरो सो पड़जे रै।
छैल भंवर जी को जीव नरम छै,
करणी तो करजे।
सदा कसूमल फैरती, सदा रंजाती जीव,
गणगोर्यां आया नहीं, घणा हठीला पीव।

'हे आतप! उष्णता मत ग्रहण करना, क्योंकि मेरे सुन्दर प्रियतम कोमल हैं, बस तू इतना-सा कृपापूर्ण कार्य करना। गणगौर पर भी मैंने उनके स्वागत के लिये कुसुंभी रंग के वस्त्र धारण किये और सदैव अपने हृदय को उनके आगमन की आशा से तृप्त किया, पर वे हठीले आये नहीं।'

इस गीत में 'स्मृति' के द्वारा गहन व्यथा की अभिव्यक्ति की गई है। वह अपने बिछुड़े प्रियतम से मिलने के लिये कितनी व्याकुल है?

अन्य ऋतुएँ तो विरहिणी किसी भी प्रकार बिता भी लेती है, पर वर्षा उसके लिए अति कठिन हो जाती है। वर्षा ऋतु है, पपीहा बोल रहा है और नायिका विरह से व्याकुल होकर अपनी एकान्त स्थिति से चीख उठती है—

'भंवर बागां में आज्यो जी,
अजी मूं तो कलियाँ बीणूं छूं अकेली।
पपीयो बोल्यो जी।'
'जोड़ावत म्हारी कस वद आवां जी,
म्हारा घर में वदै छै लड़ाई।'
'भंवर थांकी परणी मरज्यो जी,
जो लागी लगन जण तोड़ी।'
'जोड़ावत म्हांकी थेई मरजाज्यो जी,
म्हांकी परणी वंस वधावै।'

यह गीत परकीया नायिका के साहचर्य से सम्बन्धित है, जिसमें बाद में स्वकीया भाव की प्रतिष्ठा देखी जाती है। वर्षा ऋतु में अपनी निरीह अवस्था की नायिका द्वारा जैसी मार्मिक अभिव्यक्ति इस गीत में है ऐसी निश्छल अभि-

व्यक्ति कम ही स्थानों पर खोजने पर मिलती है। परकीया नायिका वर्षा के उद्दीपनकारी वातावरण में उपवन में कलियाँ चुनने के लिये चली गई। उसे पहले से ही प्रियतम की याद सता रही थी कि इसी बीच पपीहे ने 'पी-पी' की रट लगा दी। तब वह अपने-आपको इस असहाय अवस्था में न सँभाल सकी और उसका हृदय फूट पड़ा—

'हे प्रियतम, उपवन में आओ। जरा देखो तो, मैं यहाँ अकेली कलियाँ चुन रही हूँ और दूसरी ओर पपीहा ने 'पी-पी' की रट लगाई है। इस पर उसे प्रियतम से निष्ठुर ही उत्तर मिलता है, 'हे प्रियतमा, मैं किस प्रकार आऊँ, क्योंकि तुम्हारे पास आने से पत्नी से झगड़ा बढ़ता है।' तब उत्तर में नायिका का व्याकुल हृदय इस प्रकार बरस पड़ा, 'प्रियतम, तुम्हारी पत्नी मर जाये तो अच्छा।' परन्तु इसी प्रकार का निष्ठुर उत्तर उसको नायक से फिर मिलता है, 'प्रियतमा तू ही मर जाना, मेरी विवाहिता पत्नी तो मेरा वंश बढ़ायेगी।'

यह उत्तर-प्रत्युत्तर का क्रम गीत में आगे भी चलता रहता है।

वर्षा के पश्चात् आने वाली शरद ऋतु की लम्बी रातें पत्नी के जीवन को दुर्वह बना देती हैं। वह तो परमात्मा से तब भी प्रार्थना करती है कि रात इतनी लम्बी हो जाये कि प्रातःकाल हो ही नहीं—

सजन सवेरे जायेंगे, नैना मरेंगे रोई,
विधना ऐसी रात कर, भोर कदै न होई।

इस दोहे के समान ही हाड़ौती में भी तनिक हेरफेर के साथ गीत प्रचलित हैं। विभिन्न ऋतु-जनित इस वेदना का सम्बन्ध विभिन्न मासों से भी जुड़ा हुआ है। आषाढ मास में बादलों को बरसते हुए देखकर दूर जाते हुए प्रिय को नायिका इस प्रकार मना करती है—

सखी असाड़ री असाड़ महीनों गरजै।
यों सुन्दर स्याम नै वरजै।
थें मत जाओ जी स्याम,
थां बिना जीवड़ो तरसै।
छमाछम बादल बरसै।

'हे सखी, आषाढ़ मास आ गया है। यह मास गर्जना करके सुन्दर स्याम को जाने से रोक रहा है। हे श्याम, आप मत जाइये। आपके बिना मेरा हृदय व्याकुल होता है और इधर बादल मूसलाधार वृष्टि कर रहे हैं।'

'अभिलाषा' का चित्र इस दोहे में सुन्दर पाया जाता है—

नत उठ सूरज उगतो, नत चंदा घर जाय।
ऊ सूरज कद ऊगसी, जे बिछड़्या कंत मलाय।

'नित्य-प्रति सूर्य उदित होता है और चन्द्रमा भी अस्त हो जाता है, किन्तु

वह सूर्य कब उदित होगा जो मुझे अपने बिछुड़े पति से मिला देगा।'

हाड़ौती के विरह गीतों में अतिरंजना कम है। वे लोकजीवन की विरह-दशाओं के सच्चे प्रतिबिम्ब हैं। अनुभूति की तीव्रता स्त्रियों के अपने मुख से व्यक्त होकर अत्यन्त मर्मस्पर्शी बनी हुई है। विरह का आधार कल्पना-प्रसूत न होकर वास्तविक जीवन है।

हाड़ौती लोक-गीतों में प्रकृति

हाड़ौती-क्षेत्र प्रकृति की सुरम्य क्रीड़ा-स्थली है। नदी-घाटियों से परिवेष्टित यह प्रदेश मध्य भाग में शस्य श्यामल धरित्री की मनोरम छटा से युक्त है; जिसमें सिन्ध (कालीसिन्ध), पार्वती (निर्विन्ध्या) तथा चम्बल (चर्मण्वती) नदियाँ बहती हैं। चर्मण्वती के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर तो कालिदास का हृदय भी कह उठा था—

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात् प्रवाहम्।
प्रेक्षिष्यन्ते गगन गलयो नूनमावर्ज्य दृष्टी—
रेकं भुक्ता गुणमिव भुवः स्थूल मध्येन्द्र नीलम्।[1]

परन्तु यह देखकर आश्चर्य होता है कि हाड़ौती के लोकगीतों में मनोरम प्रकृति के प्रति स्वतन्त्र अनुराग प्रतीत नहीं होता। संभवतः सभी भाषाओं के लोकगीतों में ऐसा मिलता हो। कारण यह हो सकता हो कि लोक-गीतकारों को अपने आसपास के मानवों में ही काव्य के इतने विषय मिल गए कि उनका ध्यान प्रकृति की मनोरमता की ओर गया ही नहीं; यदि कभी गया भी है तो मानव-सापेक्ष्य से सामग्री-चयन करके वहाँ से लौट आया है।

इसलिए लोकगीतों में मानव प्रधान है और प्रकृति गौण। लोकगीतों में उसको मानव-सापेक्ष्य में स्थान मिला है। ऐसे प्रकृति-वर्णनों में प्रकृति को खुली आँखों से देखकर उसमें से केवल वे व्यापार चुने गये हैं, जो अत्यन्त प्रभावोत्पादक और महत्त्वपूर्ण है। जहाँ ऋतु-वर्णन में केवल ऋतु-विशेष का नामोल्लेख करने से अपना उद्देश्य पूरा हो गया वहाँ लोक-गीतकार ने किसी खण्ड या पूर्ण व्यापार को चुनने की भी आवश्यकता नहीं समझी। शरद ऋतु आई और उधर ग्रामीण नायक की कोटा की नौकरी भी आ गई। अतः वह कह उठी—

---

१. कालिदास, मेघदूत-पूर्वमेघ, ४६

शरद रत स्याळा की आई।
मूं काँई करूँ म्हारी जान, नोकरी कोटा की आई।।

हाड़ौती के गीतों में तीन ही ऋतुएँ प्राय: मिलती हैं—शरद, ग्रीष्म और वर्षा। शिशिर, हेमंत व बसन्त तो विद्वानों द्वारा ज्ञेय ऋतुएँ हैं; लोक-स्वीकृति वे नहीं प्राप्त कर सकीं, पर लोक-अन्तर्मन में वसन्त ऋतु की चेतना अवश्य है—चाहे उसका नामोल्लेख लोकगीतों में नहीं हुआ हो। इसीलिए तो एक नायिका कह उठती है—

रत फागण की आई, होळी मचै झड़ाका सूं।

यह फाल्गुन की ऋतु वसन्त ही है, जिसे बेचारी ग्रामीण नायिका नहीं जानती।)

वर्षा ऋतु के वर्णन हाड़ौती में सबसे अधिक मिलते हैं। वर्षा ऋतु प्रेम की संयोग और वियोग की अवस्थाओं में उनकी तीव्रता बढ़ाती है। वर्षा ऋतु आई है और उसने नायिका का 'लहर्‌या' भिगो दिया है। उसके दैनिक सामान्य जीवन में एक नई बात उत्पन्न हो गई है। दम्पती में से एक को प्रेम प्रदर्शित करने और दूसरे को प्रेम प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हो गया है—

भंवर थांकी बादली नै म्हांको लै'र्‌यो भजयो जी राज।
लै'र्‌यो तो सूखै सामी साळ मैं लयर लयर जिव जाय।
गोरी चंता जण करो जी लै'र्‌यो फेर मंगा दां जी राज।

ज्येष्ठ-आषाढ़ मास चले गए हैं और वर्षा के सावन व भादों मास लग गये हैं। इससे संयोग का आनन्द भी द्विगुणित हो गया है—

लाग्या सावण भादवा उतर्‌या जेठ असाड़।
लूंगा लपटी बेलड़ी ज्यूं लपट्या भरतार।

वियोग-वर्णनों में बारह मासों के वर्णन साहित्य-परम्परा में प्राप्त होते हैं। जायसी ने नागमती का विरह 'बारह मासा' में दिखाया है, जो बड़ा मार्मिक और हृदयस्पर्शी है। हाड़ौती गीतों में बारहमासों के रूप में जो वर्णन मिलते हैं उनमें पूरे बारह मासों का वर्णन कम में मिलता है। अधिकांश में तो छह मास तक के वर्णन ही प्राय: मिलते हैं। इन मासों में प्रकृति के जो-जो उद्दीपनकारी रूप सामने आते हैं उनमें से एक-दो प्रमुख व्यापार चुनकर गीतों में रख दिये जाते हैं—

सखी असाड़ री असाड़ मईनों गरजै, यो सुंदर स्याम नै बरजै।
तें मत जावो जी स्याम, थां बना जीवड़ो तरसै।
घमाघम बादळ बरसै।
तू आजा रै चतर चोमासा, जद खेलूं रै चौपड़ फांसा।

× × ×

सखी सावण री सावण मईनो जोरूँ, कोयल को राग भन तोड़ूँ ।
तें मत जावो जी स्याम, थां बना जीवड़ो तरसै ।

× × ×

सखी भादवोरी भादवो मईनो नदियाँ गै' री, या सूरत स्याम नै फेरी ।
तें मत जावो जी स्याम थां बना जीवड़ो तरसै ।

पति पास नहीं है अतः प्रत्येक मास पत्नी के लिए दुःखद बन जाता है—चाहे वह चैत्र हो अथवा वैशाख या अन्य कोई मास । नीचे के गीतों में आनुप्रासिक छटा के साथ प्रत्येक मासगत प्रकृति के व्यापार के साथ विरह का वर्णन किया गया है—

जेठ जवानी छा रही सजी, अब बदनामी आसी जी,
पक रया दाड़्यूं दाख टपक रस भरतो ई आसी जी ।

× × ×

असाड़मास बरखा रत आई बादल चढ़-चढ़ आसी जी,
गरड़ बीजली का घोर, गरड़ जीवड़ा ई जासी जी ।

हाड़ौती लोक-गीतों में प्रकृति क्रूर एवं भयंकर भी है । प्रकृति का ऐसा रूप केवल ग्रीष्म के वर्णनों में मिलता है । अपने प्रियतम को लू न लग जाये अतः नायिका उसे रोकती है कि हे धन के लोभी, तू इस भीषण दुपहरी में बाहर मत जा—

खाँ चाल्यो रै, लोभी खाँ चाल्यो रै; प्यारा खाँ चाल्यो रै ।
भगभगती दफैरी में एक खाँ चाल्यो रै ।

और एक लोक गीत की नायिका ग्रीष्म ऋतु की धूप से प्रार्थना करती है कि तू जरा कम तीव्र पड़ना; क्योंकि मेरे रंगीले प्रियतम तनिक कोमल हैं—

तावड़ा मन्दरो-सो पड़जे रै, तावड़ा मंदरो सो पड़जे ।
छैल भंवर जी को जीव नरम छै, करणी तो करजे ।

पवित्र दाम्पत्य-प्रेम में पारस्परिक सुख-दुःख का कितना ध्यान रखा जाता है, यह इस गीत से स्पष्ट हो जाता है ।

शृङ्गारिक भावना से भिन्न प्रकृति के स्वाभाविक सौन्दर्य को देखकर नर-नारी के हृदय में उमंग व क्रीड़ा का भाव संचरित होता है । इसीलिए तो वर्षा हुई और नर-नारी झूलने निकल जाते हैं । इसी आनन्दमयी प्रकृति के विशाल प्रांगण में एक बालिका झूले पर बैठी किसी अज्ञात आनन्द का अनुभव करती जा रही है । गीत उधार लिया हुआ है, पर हाड़ौती लोक-जिह्वा पर आरूढ़ है—

नन्ही नन्ही बुंदिया रे सावण का मेरा झूलना ।
एक झूला डाला मैंने, बाबुल के राज में
संग सहेली रे सावन का मेरा झूलना ।

मनुष्य प्रकृति से कितनी ही दूर हट जाए, पर प्रकृति की सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं को चुनकर अपने प्रिय स्थान को सजाने का लोभ वह कभी संवरण कर सकेगा, यह कहना कठिन है। इसीलिए तो अति प्राचीन से ही माता आड़ी का मन्दिर भी प्रकृति-प्रदत्त सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं से सजा हुआ है—

माता आड़ो का ओ मंडट मैं अवछल आऊँलो मोरियो।
अवछल आंवो वारै रूँख लागै वरख सुवावणो
कोयल री मंदरी सार वोलै सोवटा रुळ आंगणो।

हाड़ौती लोकगीतों में प्रकृति से सुन्दर-सुन्दर उपमानों का भी चयन हुआ है। उपमान चयन करते समय प्रभाव-साम्य की ओर लोक-दृष्टि गई है। उपमान रूढ़ न होकर प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र से चुने गए हैं—

म्हारी जोड़ी रा जल्ला, मरगानैणी रा जल्ला।
× × ×
लूँगा लपटी वेलड़ी रै वारी ज्यूँ लपटया भरतार।
× × ×
म्हारी ठंडा जळ की माँछळी, पानीड़ा पा-दै री।
× × ×
सूरज म्हारा सायवा, चंदा देवर जेठ।
नणदळ आभा वीजली चमकै च्यारूँ खूँट।

सारांश यह है कि हाड़ौती लोकगीतों में प्रकृति-वर्णन कम मिलता है, पर जितना मिलता है, उसका काव्योचित महत्त्व है। उसमें अनावश्यक भरती या विस्तार कहीं नहीं है।

हाड़ौती लोक-नाटक

हाड़ौती का अंचल अपने प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न है। प्रकृति की उदारता और उर्वरता यहाँ के लोक को संग्रह-प्रवृत्ति से कोसों दूर रखे हुए है। इसीलिए यहाँ का लोक-मानस मनन और भावना की जिस भूमि पर प्रतिष्ठित हुआ है, वह इसके लिए उपयुक्त है। उसने धर्म और साहित्य के क्षेत्रों में अपना संबल प्राप्त किया है। जिस प्रकार अनेक धर्म व संप्रदायों को इस क्षेत्र में पोषण मिला है उसी प्रकार लोक-साहित्य के विविध रूप यहाँ पनपे हैं, जिनमें यहाँ के लोक-मानस का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है।

जो धर्म व साहित्य की अनवरत उपासना यहाँ के लोक-जीवन का अंग बनी हुई है, उसके प्रत्यक्ष दर्शन फसलों के कार्यकाल के उपरांत इस अंचल में होते हैं। यहाँ के ग्रामों में 'भागवत' का मास-पारायण, 'मानस' या 'राधेश्याम रामायण' का सस्वर एवं सव्याख्या पाठ, 'आल्हा रामायण' का चौपालों में उठता स्वर, 'तेजाजी' का मास भर ढोलक-मंजीर के साथ गायन, दीपावली पर उठने वाली 'हीड़' की गूँज आदि उसके धर्म और साहित्य की समन्वित साधना के परिचायक हैं। उसकी कोई भी धार्मिक क्रिया लोकगीतों से विरहित होकर सम्पन्न नहीं होती है। यह रुचि-समन्वय मनोरंजन के साधन रूप में गृहीत लोक-नाटकों के प्रकार—लीलाओं को अभिनय की प्रेरणा देती है।

इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता है कि यहाँ का लोक-जीवन इस लोक की उपेक्षा करके चलता है। राम व कृष्ण जिसके आदर्श रहे हों, सुख-दुःखात्मक अवनी पर जिसके आराध्य-देवों ने क्रीड़ा की हो, वह इस जगत् से कैसे आँखें मूँद सकता है? शस्य श्यामल धरित्री के पवन-आंदोलित लह-लहाते खेतों में उसका मन-मयूर नाचता है, सरिता के कल-कल प्रवाह में उसके कंठ का कलनाद निनादित होता है, ऋतुओं की आँख-मिचौनी में उसका हृदय स्पंदन-शील बनता है, कोयल की कूक उसके हृदय की हूक को प्रकट करती है। लोक-गीतों में उसने इन्हें गाया है। लोक-नाटकों में इसकी यह जीवन-दृष्टि 'खेलों' में या 'ख्यालों' में प्रकट हुई है। सामन्तीय वातावरण में विकसित इस अंचल ने

खेलों में राजा-रानी के प्रेम-व्यापार को अभिनय का विषय बनाया है।

लीला और खेल

लीला और खेल इस अंचल के लोक-नाट्य कला के विकसित प्रकार हैं। अपने अतीत में यहाँ के लोक ने मनोरंजन के साधन-रूप में जिन अविकसित नाट्य-प्रकारों को अपनाया था उन्हें भी उसने अपने स्वभाववश छोड़ा नहीं है। कठपुतलियों के खेल, पाबूजी के 'फड़े', होली के अवसरों पर प्रदर्शित स्वांग, बहुरूपियों द्वारा धारित विभिन्न स्वरूप, भाँडों द्वारा प्रदर्शित विभिन्न एकाभिनय, स्त्री-समाज द्वारा 'वीछूड़ों' आदि प्रकार के अभिनयात्मक लोकगीत आदि में लोक-नाटक के प्राचीन स्वरूपों के दर्शन होते हैं। इनके अतिरिक्त भी 'तमासे' होलिकोत्सव के उपरांत प्रदर्शित होते हैं। 'न्हाण को तमांसे' नाम से सांगोदा कस्बे में चैत्र कृष्ण पक्ष त्रयोदशी को प्रतिवर्ष लोक-नाट्य होता है, जिसमें शृङ्गार, हास्य, व्यंग्य के विभिन्न विषयों को चुनकर विभिन्न कलाकारों द्वारा उनका अभिनय किया जाता है। स्त्री-पुरुष की भूमिकाओं में उतरे पुरुष कलाकार अपनी कामुक और अश्लील चेष्टाओं द्वारा दर्शकों का निर्बाध मनोरंजन करते हैं, जिनके कार्य-व्यापार में अंतर्मन का अमर्यादित प्रकाशन होता है। गद्य-पद्यमय कथोपकथनों व नृत्य-संगीत से युक्त इस 'तमासे' को 'खाडा को न्हाण' भी कहा जाता है। 'खाड़ा' खड्डा या गड्डा ही है, जिसके निम्न मध्य भाग में अभिनीत तमाशा उसके ढलानों पर स्थित दर्शकों की दृश्य-श्रव्य क्षमता का पूर्ण उपयोग करने का सहज अवसर प्रदान करता है।

हाड़ौती लोक-नाटकों के दो उल्लिखित प्रकार— लीला और खेल या ख्याल अति प्रचलित हैं। लीलाओं में रामलीला, तेजाजीलीला, रुकमणी-मंगल, गोपीचंदलीला, नरसींग लीला, प्रहलाद लीला, विल्व मंगल, मोरध्वजलीला आदि प्रसिद्ध है। खेलों में खेंवरा, ढोला मरवण, रंज्या हीर, फूलांदे···आदि उल्लेखनीय हैं। लीलाओं का अभिनय तो तत्तत्सम्बन्धित पुनीत तिथि के आसपास होता है, पर खेलों के अभिनय में ग्रामवासियों के अवकाश-काल व प्रकृति की सुखदता ही निर्णायक बनते हैं। लीलाओं का अभिनय तो अनेक ग्रामों में अनेक दशकों से नियमित रूप से हो रहा है, पर खेलों का अभिनय उतना नियमित नहीं है, उनका खंडित प्रवाह इस-उस ग्राम में मिलता है। 'रामलीला' का उदय नीमोदा में हुआ है और वहीं से वह हाड़ौती अंचल में फैली है। व्याप्ति की दृष्टि से 'गोपीचंद लीला' का स्थान सर्वोपरि है। उसकी प्रतियाँ स्थान-स्थान पर मिल जाती हैं। 'खेवरां' भी इस क्षेत्र का प्रिय खेल रहा है।

लीला का आधार

लीलाओं का आधार ईश्वरीय सत्ता की प्रतीति के साथ दर्शकों में भक्तिभाव उत्पन्न करना या बनाये रखना है। उनमें सगुण भक्ति मिलती है। इस जगत् में ईश्वर का प्रकट होकर लीला करना या भक्त की पुकार पर चले आकर उसे संकट से मुक्त कराना लीलाओं की स्वीकृतियाँ हैं। अन्य लीलाओं से गोपीचन्द लीला इस रूप में भिन्न है कि उसमें ईश्वर की प्रतीति तो है, पर उसके निर्गुण-सगुण किसी रूप का संकेत नहीं है। वहाँ वह न तो लीला करता है और न प्रकट होता है। लीला नाटक सुखांत होते हैं और मध्य में दुःख और संकटों की उत्तरोत्तर वृद्धि भक्त की परीक्षा के लिए दिखाई जाती है। आकस्मिकता, अस्वाभाविकता और अलौकिकता से युक्त लीलाओं के कथानक अंत तक कौतूहल जागृत रखते हैं और उनकी रसात्मकता में योग देते रहते हैं। उनमें भक्ति रस प्रधान होता है, पर गोपीचन्द लीला का अंगीरस शान्त है। कथोपकथनों में नपातुलापन है—प्रत्येक पात्र समान वाचाल होता है। कथोपकथनों की प्रभावोत्पादकता प्रसंग व गायक के स्वर-लोच पर आश्रित होती है।

रामलीला

यह 'रामचरित मानस' के आधार पर लिखी गई है जो लोक में व्याप्त भारतीय धर्म-साधना के सतत प्रवाह और अखण्डता का प्रतीक बनकर आज भी ग्रामों में अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति से चैत्र मास में अभिनीत होती है। इस लीला का आरम्भ राम-रावण के पूर्वजन्म की कथा से होता है। 'मानस' के आधार पर बनाई गई यह लीला दार्शनिक गंभीर प्रसंगों को बचाकर चलती है, केवल ऐसे ही प्रसंग इसमें गृहीत हैं जो तानों (गीतात्मक कथोपकथनों) द्वारा दर्शकों को सहज ग्राह्य बन सकते हैं। महाकाव्य का नाटकीकरण करने के इस प्रयास में लोक-रुचि और अभिनय के सीमित साधनों का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। विशाल वितान के नीचे तख्तों पर रखी कुर्सियों से इसका रंगमंच बनता है, जिसकी पृष्ठभूमि किसी मकान की दीवार या सामान्य-से पर्दे द्वारा बनती है। अतः लीला में सीता की अग्नि-परीक्षा-जैसे प्रसंगों को छोड़ दिया गया है। कथा-निर्वाह में 'मानस' की अनुरूपता है, जो पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी मिलती है। पात्र वे ही हैं, चित्रण की स्थूल रेखाएँ भी समान है, पर चरित्र-चित्रण की जो सूक्ष्मता 'मानस' में मिलती है वह इस लीला में नहीं मिलती। परिचित कथा की मार्मिक घटनाओं को मंच पर घटित होते चर्मचक्षुओं से दिखाना लोक के लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं है—उसमें रस-प्रवाह के लिए पर्याप्त है। मन जितना सरल होगा संप्रेषण के लिए कला-कौशल की उतनी ही कम अपेक्षा होगी। यही

कारण है कि लोक-नाटकों के दर्शकों को गलदश्रु, अवरुद्ध कंठ या रोमांच की स्थिति में प्रायः देखा जाता है।

गोपीचन्द लीला

गोपीचन्द लीला की कथा ऐतिहासिक नायक गोपीचन्द (१०वीं से १२वीं शताब्दी के मध्य) की मातृ-प्रेरणा से वैराग्य ग्रहण और तत्पश्चात् उसकी पत्नी के विरह-कथनों में सीमित है। इस नाटक में नाट्यगुण की अपेक्षा काव्य-गुण अधिक हैं। नाटक में नायक गोपीचन्द, जो वैराग्य धारण कर चुका है, के द्वारा एक-एक करके अपने सम्बन्धियों से भगवा वेश में भिक्षा याचना की जाती है। ये सभी दृश्य अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं और नाटक के प्राण भी हैं। गोपीचन्द लीला के कथोपकथन अत्यन्त मर्मस्पर्शी और मनोवैज्ञानिक हैं। विरक्त याचक पति द्वारा रानी को 'माँ' शब्द द्वारा सम्बोधन किये जाने पर उसका उत्तर होता है—

माता तो कंवरां म्हाँसै न कहो, म्हे राणी थांकी।

इस उत्तर में उसकी सारी व्यथा छिपी हुई है। ऐसे कथोपकथनों द्वारा लेखक पात्रों की चारित्रिक गहराइयों तक पहुँचता है, जिनसे पात्रों का अंतः-बाह्य एक साथ ध्वनित होकर लीला के अल्प विकसित कथानक तक दर्शक की दृष्टि नहीं पहुँचने देता।

मोरधज लीला

मोरधज लीला की कथा का उत्तरार्द्ध 'जैमिनीयाश्वमेध पर्व' पर आधारित और पूर्वार्द्ध कल्पना-प्रसूत है। पूर्वार्द्ध कथा-कल्पना में नायक के नाम का 'मोर' अंश हेतु बना है। परम भक्तिन पद्मावती का विवाह मोर के साथ इसलिए कर दिया जाता है कि वह यह स्वीकार नहीं करती कि वह अपने पिता के भाग्य का खाती है; अपने भाग्य का नहीं। मोर की मृत्यु पर उसके साथ सती होने के निश्चय का इसलिए क्रियान्वयन नहीं हो पाता कि शिव द्वारा मोर को राजा रूप में जीवित कर दिया जाता है। साधु वेश में ईश्वर पद्मावती और मोरधज की भक्ति-परीक्षा लेते हैं—उनके पुत्र रतनकुमार को आरे से चिरवाते हैं और परीक्षा में सफल उतरने पर वे प्रकट होकर उन्हें दर्शन देते हैं। कथा में अलौकिक तत्वों की भरमार से ग्रामीण दर्शक की ईश्वर-भक्ति तो दृढ़ होती है, पर रंग-मंच की सीमाओं का ध्यान न रखने से दृश्य-काव्य में भी दर्शन को श्रव्य-काव्य के समान कल्पनाश्रयी बनना पड़ता है। 'लीला' का अंगी रस वीर है। नायक और नायिका धर्मवीर कोटि में आते हैं।

प्रहलाद लीला

प्रहलाद लीला 'भागवत' पर आधृत नाटक है, जिसमें मूल सूत्रों को पकड़ कर उनका विस्तार किया गया है। पात्र व वस्तु तो दोनों में समान है, पर विस्तारों में भिन्नता का कारण लोक-रुचि और ग्राहक-भिन्नता है। कथा का प्रारम्भ हरणाकुस (हिरण्य कशिपु) की पूर्वजन्म की कथा से होता है। सनकादिक मुनियों से अभिशप्त हरणाकुस ब्रह्मा से वरदान प्राप्त कर राम-विरोधी बन जाता है और अपने एक भक्त पुत्र प्रह्लाद पर अत्याचार करता है। उत्तरोत्तर बढ़ते अत्याचार से प्रह्लाद की भक्ति निखरती है और अन्त में स्वयं भगवान नृसिंह रूप में प्रकट होकर हरणाकुस का वध करते हैं। नायक और खलनायक रूप में पुत्र व पिता का प्रस्तुत होना भक्ति की सर्वोपरिता को सिद्धकरने की दृष्टि से कलापूर्ण योजना है। पारिवारिक विघटन के स्थान पर इसे पारिवारिक संगठन रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए; क्योंकि असत् और अनैतिकता पर आधारित कोई भी इकाई विश्व के लिए घातक सिद्ध होती है और उसके सदाचारित होने पर धर्म की स्थापना होती है। 'ध्रुव लीला' में भी इसी प्रकार ध्रुव की घोर तपस्या दिखाई गई है। रुक्मिणी मंगल में कृष्ण-रुक्मिणी के विवाह की कथा से सम्बन्धित घटनाचक्र अपनाया गया है, जिसमें 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' का अनुसरण किया गया है।

खेल या ख्याल

हाड़ौती के खेल शृंगार-रस-प्रधान नाटक हैं; जिनके नायक राजा होते हैं। सामन्तकालीन विलासी प्रवृत्तियों की छाप वस्तु-संगठन और चरित्र-चित्रण में मिलती है। कहीं-कहीं इस प्रवृत्ति का अमर्यादित रूप भी मिलता है; इससे नाटकों में अश्लील और कामुक कथोपकथन आ गये हैं। खेलों में प्रेम का त्रिकोण मिलता है। एक नायक को दो प्रेमिकाएँ प्यार करती हैं, उनमें से एक नायिका होती है और दूसरी खलनायिका। खलनायिका के प्रपंचों में नायक फँसता है; जिनसे मुक्त होने के साथ ही नायक-नायिका का मिलन होता है और नाटक की समाप्ति हो जाती है। प्रेम का उदय पूर्वराग रूप में दिखाया गया है जो श्रवण-दर्शन द्वारा उत्पन्न होता है। 'रंज्याहीर' के अतिरिक्त सभी खेलों में लौकिक प्रेम चित्रित है। रंज्या का प्रेम अलौकिक (इश्क हकीकी) है और सूफी शैली से प्रभावित है। कथा-निर्वाह में प्रेम के त्रिकोण निर्वाह से उत्सुकता आद्यन्त बनी रहती है, जो स्वाभाविक ढंग से आई है।

खेंवरा

'खेवरा' नाटक का नायक खेंवरा है जो आबलदे की रूप-प्रशंसा सुनकर उस पर आसक्त हो जाता है और उसे प्राप्त करने के लिए निकल पड़ता है। स्त्री-वेश में वह विवाह-उदासीन आवलदे से मिलता है और उसमें प्रेमोदय करता है। नायिका के भाई वाला द्वारा द्वन्द्व में मारे जाने पर शिव-पार्वती के आशिष से पुनः जीवन धारण कर वह आबलदे से विवाह कर लेता है। कथा में अलौकिक तत्त्वों की स्वीकृति मिली है। इस नाटक में वाला खलनायक रूप में चित्रित हुआ है। शृंगार के साथ वीररस-परक इस खेल में नायक में उस ओजस्विता का अभाव है जो भारतीय परंपरा के नायकों में अपेक्षित है। सामन्तों में बढ़ती विलासिता के वातावरण से नायक की सृष्टि हुई है। अतः वह कंचुकी वेश भी धारण करता है। कथोपकथनों में ओज है। इसके अभिनय-काल में 'म्हारै खंजर को पतियारो, धड़ सैं मसतंग कर दूं न्यारो' के उच्चारण के साथ किसी अभिनेता का सिर काट देने की जनश्रुति भी इस क्षेत्र में प्रचलित है।

ढोला-मरवण

राजस्थान ही नहीं, समस्त उत्तरी भारत में ढोला मरवण की कथा लोक-साहित्य के विविध रूपों में प्रचलित है जिससे प्रेम का त्रिकोण मिलता है। राजा नल के पुत्र ढोला का विवाह पुंगल की राजकुमारी मरवण से अति बाल्यावस्था में होता है, पर वह रेवा के प्रेम-पाश में बँध जाता है। मरवण चारण और शुक को भेजकर उसे मुक्त कराती है। जब ढोला मरवण द्वारा ली गई परीक्षा में खरा उतरा है तब दोनों का मिलन होता है। नायिका-प्रधान इस खेल की कथा की व्याप्ति का श्रेय इसकी तरलता, सरलता और हृदय-स्पर्शिता को ही हैं। ऐतिहासिक नामों और घटनाओं के द्वारा जिस पवित्र दाम्पत्य भाव की प्रतिष्ठा इस नाटक द्वारा की गई है वह भी इसके आकर्षण का कारण बना है। चरित्र-चित्रण स्वाभाविक है, जिससे नायिका का कर्त्तृत्व अधिक उभरा है। सामन्ती वातावरण के प्रभाव से संयोग शृंगार के चित्रों में अश्लीलता और इन्द्रियता आ गई है, पर वियोग शृंगार के कथन मर्मस्पर्शी और पात्रानुकूल हैं। पता नहीं सं० दुर्लभ से बना दुल्लह > ढुल्लह > ढोला शब्द हाड़ौती क्षेत्र में पति के अर्थ में कब से रूढ़ हो रहा है. पर उसमें घृणा और अनादर का भाव भी जुड़ गया है।

रंज्या-हीर

इस नाटक की कथा 'लैला मजनूं' के आदर्श पर विकसित कहानी हैं। पंजाबी लोक-साहित्य में व्याप्त इस प्रेम-कथा को हाड़ौती क्षेत्र तक पहुँचने

के लिए कितनी यात्रा करनी पड़ी होगी, यह स्वतन्त्र चिन्तन का विषय है। केवल पंजाबी में ही इसने अनेक रूपों में अभिव्यक्ति पाई है। सरल और अविकसित कथानक का यह खेल प्रतीकात्मक भी है। जिसमें रंज्या साधक है, बीरबल दोस्त गुरु है और हीर ईश्वर है। जिस हीर को रंज्या ने प्राप्त किया है वहाँ बड़े-बड़े सम्राट् भी नहीं पहुँच पाते हैं—

बड़ा बड़ा गुलजार बादसा, जरा पास नई आवै।

और नाटककार के अनुसार ही खुदा के भाव से यह कथा कही गई है—

लैला मजनूं करी दोसती, भाव खुदा का रक्खा।

नाटक के नायक-नायिका ऐतिहासिक पात्र हैं। नायिका के नख-शिख का जितना सुन्दर वर्णन नाटक में हुआ है वैसा किसी अन्य नाटक में नहीं मिलता। उधर नायक में प्रेम की जो तड़फन है वह भी उसे मार्ग की बाधाओं अथवा फतमल के अवरोध की परवाह नहीं करने देती। सूफी कथाओं के अनुसरण पर विकसित यह नाटक अन्य खेलों से इस बात में भिन्न है कि इसका प्रस्तुत पक्ष अलौकिक प्रेम का संदेश देता है। दूसरे, इसमें कवित्व का निखार भी अपूर्व है। उपमानों का विधान परम्परागत नहीं है। किसी कवि-हृदय की यह सरस नाट्य-कृति अपनी शैली में विरल और कवित्व से भरपूर है।

खेलों में फूलांदे आदि भी प्रेम आधारित कथा को अपनाकर चलते हैं। मनोरंजन के लिए खेले जाने वाले इन खेलों में किसी जीवन-दृष्टि का अभाव मिलता है।

हाड़ौती मंच और अभिनय शैली की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। छोटे से शामयाने के नीचे निर्मित मंच, जो चबूतरा भी हो सकता है, और तारा खचित विशाल नील वितान से निर्मित दर्शकों की प्रेक्षा-स्थली अभिनय के लिए पर्याप्त हैं। स्त्रीवेश में पुरुष कलाकारों द्वारा पूर्वाभ्यास के अभाव में प्रदर्शित कला ग्रामीणों के मनोरंजन के लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं होती। शिक्षा और सिनेमा के प्रसार ने साहित्यिक नाटकों के लेखन और अभिनय को जो क्षति पहुँचाई है वह लोक-नाटकों के जीवन को कितने समय तक बने रहने देगी, यह चिन्त्य विषय है। भविष्य पर दृष्टि गड़ी है। पर इनके विलुप्त होने से पूर्व ही इनका संरक्षण हो जाये तो पुरातत्त्वज्ञों के आनुमानिक शोध से ये बच सकेंगे।

हाड़ौती के कवि सूर्यमलमिश्रण की 'वीर सतसई'[1] : भाषा वैज्ञानिक दृष्टि में

'वीर सतसई' कवि सूर्यमल मिश्रण की कृति है, जिसकी रचना उन्होंने तव की थी जव समय ने पलटा खाया था।[2] सन् १८५७ के स्वतन्त्रता युद्ध के समय कवि को क्षत्रिय जाति में व्याप्त आलस्य और ऐश से घोर निराशा हुई और उसने योद्धाओं में प्राण फूंकने वाली तथा कायरों में त्रास उपन्न करने वाली 'सतसई' की रचना की।[3] वह अपनी रचना को काव्यगत परम्पराओं से मुक्त करके केवल वीररस के उत्साह-वर्द्धक दोहे लिखने में अपनी कला की चरम साधना समझकर चला था। चारण काव्य में चिर प्रतिष्ठित 'वयण सगाई' अलंकार का तिरस्कार उसके इस विश्वास का द्योतक है।[4] इससे यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि कवि ने कथन-शैली के स्थान पर कथ्य को महत्त्व दिया है और परम्परा से छिन्न होकर स्वतन्त्र चेता और युग-निर्माता के रूप में काव्य और भाषा के क्षेत्र में नवीनता और मौलिकता का परिचय दिया है।

'वीर सतसई' में निम्नलिखित १० स्वर-ध्वनियों के मिलती हैं—

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ एवं औ। सं. 'ऋ' स्वर का शुद्ध उच्चारण 'वीर सतसई' की भाषा में नहीं मिलता। यह स्वर-ध्वनि स्वतन्त्र रूप से पुस्तक में प्रयुक्त नहीं हुई है। 'वृथा' (३६-२) शब्द में इसकी मात्रा मिलती है, पर

---

१. प्रस्तुत विश्लेपण में नरोत्तमदास प्रभृति विद्वानों द्वारा सम्पादित 'वीर सतसई' (१९७०) को आधार वनाया गया है।

२. बीकम वरसां बीतियां गुण चो चंद गुणीस।
विसहर तिथि गुरु जेठ वदि समय पलट्टी सीस। ३

३. सत्तसई दोहा-मयी मीसण सूरजमाल,
जंपै मड़-खाणी जठै सुणै कायरां साल। ६

४. वयणसगाई वालियां पेखीजै रस-पोस,
बीर-हुतासन बोल में दीसै हेक न दोस। ६

'द्रिग' (१३५-१) शब्द में इसका स्थान 'रि' ने ले लिया है। अतः सं. 'ऋ' स्वर यहाँ 'रि' ध्वनि बन गया है। उपर्युक्त स्वर शब्द में आदि, मध्य तथा अन्त्य स्थानों पर इस प्रकार प्रयुक्त हुए है—

	आदि स्थानीय	मध्यस्थानीय	अन्त्य स्थानीय
अ	अगाऊ ४६-४	सत्तसई ६-१	हृथ्य १५४-२
आ	आळस ४-३	रंजाट ५-२	ऊजळा ८-१
इ	इक-डंकी ४-१	तिथि ३-३	गणवइ १-३
ई	ईखो १६८-१	सोचीजैं १६०-२	सोई ४५-१
उ	उण २७६-२	राउत १६२-२	गुरु ३-३
ऊ	ऊघड़सी २६२-४	पूगा १६२-४	अगाऊ ४६-४१
ए	एथ १५४-३	हेली १७५-१	मेल्हे १७७-४
ऐ	ऐस ४-३	मैंगल १५४-४	उपाडे १८६-२
ओ	ओडी १५२-४	डहोला १५२-१	लटकंतो १६४-२
औ	और १७८-२	सौक ७२-१	चौ ३-२

वीर सतसई की भाषा में स्वर-संयोग के उदाहरण अत्यल्प हैं। कुछ स्वर-संयोग ये हैं—

अइ गणवइ १-३
अई सत्तसई ६-१
आई वयणसगाई ६-१
आऊ अगाऊ ४६-४
ओई सोई ४५-१

इसकी भाषा में अनुनासिक स्वर के उदाहरण भी मिलते हैं—

अँ जँवाई १२१-२, मँडा ड़े २३२-४
आँ डाढाँ २२, झाडाँ २३
इं किंवाड़ १२२-४
ईं नींदाणों २३२-२
उँ मुँहगा १८२-१
ऊँ लूंवे १२२-२, झूंपडे २२६-१
एँ में २४-२
ऐं मैंगल १५४-४, चैंकसी ११८-३

वीर सतसई में अनुस्वार ध्वनि और अनुनासिक स्वर के लिए 'ं' का प्रयोग हुआ है। किस शब्द में यह अनुस्वार है और कहाँ पर स्वर-अनुनासिकता का द्योतन करता है, यह पाठक स्वयं निर्णय कर लेता है। शुद्ध रूप में अनुस्वार रूप में तो कुछ शब्दों में आता है, जैसे—संसय (७६-२) आदि शब्दों में, अन्य

शब्दों में कहीं वह अनुगामी व्यंजन का पंचम वर्ण बनकर उच्चरित होता है और कहीं वह 'न्' रूप में उच्चरित होता है।

'वीर सतसई' की भाषा में निम्नलिखित व्यंजनों का प्रयोग मिलता है—

क्. ख्, ग्, घ्, ङ्
च्, छ्, ज्, झ्
ट्, ठ्, ड्, ढ़्, ड़्, ण्
त्, थ्, द्, ध्, न्'
प्, फ्, ब्, भ्, म्, म्ह्
य्, र्, ल्, 'ल्ह, ळ, व्, व्, स्, ह्,

नासिक्य व्यंजनों में से 'ञ् व्यंजन के प्रयोग का इसमें सर्वथा अभाव है। 'ङ्' का स्वतंत्र प्रयोग नहीं हुआ है, यह खुद संयुक्त व्यंजन के प्रथम व्यंजन के रूप में मिलता है। 'ण्' का मूर्धन्य उच्चारण संयुक्त-ध्वनि रूप में मिलता है, वहाँ यह 'न्'-वत् उच्चरित होता है। सतसई की लिपि व्यंजन ध्वनियाँ हिन्दी में नहीं है। इनमें से प्रथम पार्श्विक उत्क्षिप्त, अल्पप्राण, सघोष व्यंजन है और दूसरा दंत्तोष्ठ्य, अल्पप्राण, सघोष, अर्द्ध स्वर है। इन दोनों का प्रयोग शब्द के आदि में नहीं मिलता है। म्ह्' 'म' नासिक्य व्यंजनों का महाप्राण रूप है। 'ल्ह' 'ल्' का महाप्राण रूप है। इनका प्रयोग शब्द के अन्त में 'सतसई' में नहीं मिलता है। पुस्तक की व्यंजन माला में दो शिन् व्यंजन ध्वनियाँ 'श्' और 'ष्' लिपिबद्ध नहीं है। जहाँ हिन्दी या अन्य भाषाओं में 'श्' या 'ष्' आते है वहाँ इसमें 'स्' का प्रयोग मिलता है, जैसे सोणित (शोणित) (१२४-४) प्रकास (प्रकाश)—(१-४), बरसाँ (वर्ष) (१५५-३), विसहर (विषधर) (३-३)। 'ढ़्' व्यंजन सतसई में नहीं है,—उसके स्थान पर 'ढ्' प्रयुक्त हुआ है, कढता (कढ़ता) (१२-३) चढंत (चढ़ंत) (१००-२)। 'ड़' व्यंजन शब्द के आदि में प्रयुक्त नहीं होता है।

	आदि स्थानीय	मध्य स्थानीय	अन्त्य स्थानीय
क्	कारण १-२	हकालै १९-३	धड़क् १७-१
ख्	खीमो १६-१	सिखावणु ५७-२	राख् (भस्म) २२३-३
ग्	गाऊँ १-३	पूगै ४६-४	सुरग् (स्वर्ग) ६१-१
घ्	घर् १६-१	ऊघड़सी २६२-४	वघ् १६-४
ङ्	×—	अङ्ग २१९-२	
च्	चींताणी ७-२	मिर्च १९-३	कुच् १७३-१
छ्	छाती १९-१	पाछा १७-१	गूँछ् २५ -४
ज्	जेथ १६-४	अजका ४६-३	जेज् (देरी) १२-२
झ्	झपटै ५७-४	माँझिया १२४-३	तुझ् १-३

ट्	टोटै १०६-१	वेटा ६४-३	निराट् (निर्णय) ६४-२
ठ्	ठाकुरां २६३-१	छठै ६२-२	पीठ् १७७-४
ड्	डंड् २१८-४	गैंडा १६-३	करंड् (पिटारा) २१८-२
ढ्	ढीटा (धृष्ट) ५६-४	बाढण ५७-३	—
ड़्	—	देसड़ा १९-३	मड़ ४६-४
ण्	—	जाणतां ६३-१	जिण् १८-४
त्	तूझ १-३	छातियां १५२-१	कंत् १५४-२
थ्	थिया १८२-१	हाथळ १८-३	जेथ् १९-४
द्	देराणी १३५-२	हूंदै ५८-३	वींद् ५६-३
ध्	धाड़वियां २३०-१	निधड़क १६-१	वंध् १०४-४
न्	निधड़क १६-१	ननाणै (ननिहाल) ६३-३	मन ४४-१
प्	पूजाणो ७४-१	तापणै ५८-३	आप् ५४-४
फ्	फिरै २६३-३	—	—
ब्	बलण ७६-१	नींवड़ै २८७-३	नीव् (नीम) २८८-४
भ्	भ्रूण ५७-२	उभै (उभय) २५१-३	गरभ् ५८-२
म्	मूढ १-२	भामणा (बलैया) १८२-३	लगाम् ८२-४
म्ह	म्हारे २८८-४	साम्हो १७-३	×
य्	—	कायर १९-२	सिखाय् ५८-२
र्	राणियां ५६-१	केहरी १६-१	वीर् १-४
ल	लाऊं १-१	सलूणो ५५-३	अमल् (अफीम) ४४-१
ळ	—	हकाळै १७-४	दळ ४६-४
ल्ह	ल्होड़ी २५३-४	मेल्हे १७७-४	—
व्	वळै १-३	अवेर २२९-२	विवेक २२८-२
व़्	—	भोलाव़िया (बहकाना) २२-४	वाव़् (वायु) १६-४
स्	सदा १-२	देसड़ा १९-३	दास् १-२
ह्	हायळ १८-३	आहणै १८-२	दीह् १७-२

ड़्, ण्, य्, ळ, तथा व़् का प्रयोग शब्द के आदि में नहीं मिलता है और 'म्ह' 'ल्ह' के अन्त्यस्थानीय होने के उदाहरण भी सतसई में नहीं मिलते है, यद्यपि भाषा की प्रकृति के अनुसार उनके तत्स्थानीय प्रयोग सम्भव है। व तथा व़् ध्वनियाँ परिपूरक वितरण में प्रतीत होती हैं, प्रथम का प्रयोग शब्दान्त में नहीं है और दूसरी शब्द-मध्य में नहीं आती है। शब्द-मध्य में 'व्' केवल तत्सम शब्दों में मिलता है और 'व़्' तद्भव शब्दों में। अतः दोनों 'व्' एक ध्वनिग्राम की संध्वनियाँ मानी जा सकती हैं। अनेक शब्दों में 'व्' का प्रयोग हिन्दी 'ब्'-स्थान पर भी हुआ है—विणा (बिना), वजंता (बजंता)। 'य्' अर्द्धस्वर को बंगाल-हिन्दी

मंडल के संस्करण में तो शब्द के प्रारम्भ में स्वीकृति मिली है, पर संपादक-द्वय नरोत्तम दास स्वामी तथा नरेन्द्र भानावत द्वारा संपादित 'सतसई' में उसे अस्वीकार किया गया है। ये दोनों ही विद्वान् राजस्थानी के विशेषज्ञ हैं।

सतसई के पाठों में वर्तनी-भेद भी मिलता है—जैसे-पाहुणां (८४-३) व पावणो (१२६-१ तथा १२८-३), जो उनके तत्कालीन उच्चारण-विकल्प का संकेत करता है।

'सतसई' में संयुक्त व्यंजन कम मिलते हैं। उसकी भाषा की प्रवृत्ति सरलीकरण की ओर है। इससे विक्रम > वीकम (३-१), मिश्रण > मीसण, (६-२), ईक्षण > ईखणो (१५४-३), गयंद > गींदवो (७३-३), दन्त > दांत (२१६-२) हो गये हैं। कवि का शब्द-भंडार तद्भव शब्दों का है। अतः संयुक्त-व्यंजन कम मिलते हैं। उनके अनेक प्रकार हैं—

पहले प्रकार के व्यंजन-संयोग प्राकृत की द्वित्वीकरण की प्रवृत्ति के अवशेष हैं। दूसरे नासिक्य व्यंजन और स्पर्शों से बने है। तीसरे वे हैं जो अन्तस्थों और स्पर्शों के संयोग से बने हैं—

१. **द्वित्व-श्रेणी के संयुक्त व्यंजन**—

क्+क्=हक्कँ १९९-३
ग्+ग्=भग्गा २४८-१
च्+छ्=अच्छर २६०-३
ट्+ठ्=विणट्ठा ३५-३
त्+त्=सत्तसई ६-१
त्+थ्=चवत्थैं ११७-१
प्+प्=खप्पर १६८-२

२. **मध्य नासिक व्यंजन+स्पर्श**—यद्यपि सतसई में नासिक व्यंजनों के लिए पूर्व स्वर पर ' ं ' (बिन्दी) का प्रयोग हुआ है, पर उच्चारण की दृष्टि से उसे परवर्ती स्पर्श का पचम व्यंजन ही समझा जाना चाहिए—

मुद्रित रूप	उच्चारित रूप
ङ्+क्=कंकणी १६६-१, निसंक १५७-१	कङ्कणी, निसंक
=लंकाळ ८५-४	लंकळ
ङ्+ग्=रंग	रङ्ग
ङ्+घ्=सिंघणी ७६-३	सिङ्घणी
न्+च्=मंच १७५-३	मन्च
न्+ज्=कुंजर ६५-३	कुन्जर
न्+ट्=अछंट, वंट १८३-२, ४	अछन्ट, वन्ट
न्+ड्=झंडा, सिखंडी २०१-२, ४	झन्डा, सिखन्डी

न्+त्=कंत १५४-२	कन्त
न्+थ्=पंथ १२६-१	पन्थ
न्+द्=मंदर १६४-२, हंदा २११-१	मन्दर, हन्दा
न्+ध्=सुगंधी १२७-३	सुगन्धी
म्+व्=त्रंबक १३४-१	त्रम्वक
म्—भ्=कुंभकरण २०२-३	कुम्भकरण
=अचंभो १७४-१	अचम्भो

उपर्युक्त दोनों प्रकार के संयुक्त व्यंजन शब्द के प्रथम अक्षर में नहीं मिलते हैं।

३. अन्य व्यंजन+अन्तस्थ

परव्यंजन—य्	क्—य्	क्यूं ६५-४
	ट्—य्	वांट्यो २८०-३
	ढ्—य्	डोढ्यां ८३-१
	थ्—य्	हाथ्यां १९२-४
	प्—य्	प्याला २७१-३
परव्यंजन—र्	ज्—र्	वज्र १६-४
	त्—र्	त्रंवक १३४-१, त्रण २२६-१
	द्—र्	द्रिग १३५-१, द्रमंका १६५-१
	प्—र्	प्राणां ८७-३
	भ्—र्	भ्रूण ५७-२, भ्रूंह २४२-४
	स्—र्	स्रवण १३५-२
ह्+व्	ह्—व्	ह्वै १७८-३, १८५-३

तीसरे प्रकार के संयुक्त व्यंजन शब्दों में से परवर्ती 'र्' -युक्त संयोग प्राय: शब्द के प्रथम अक्षर में मिलता है और 'य्' तथा 'व्' अर्द्ध-स्वरों के संयोग से निर्मित संयुक्त व्यंजन शब्द के आदि और मध्य में मिलते हैं।

'सतसई' की भापा में कुछ ध्वनि-संयोग इसकी प्रकृतिगत विशेपता प्रतीत होते हैं—

(क) -इय्-से बनने वाले—इय, इया, इयां, इयो आदि के उदाहरण प्रचुरता से मिलते हैं—तियण (१९७-३), ढोलणिय (२३२-३), आवियां (२६६-१), पधारिया (२१२-३), अरियां (२३६-१), जोगियां (१४२-१), पिछाणियो (२३३-१), पाळियो (२८६-३)।

(ख) -अय्, आय्, आव् के संयोगों से बनने वाले रूप भी 'सतसई' में मिलते है—

मणिहारी जा री, परी,
अब न हवेली आव।
पीव् मुवा घर आविया
विधवा कवण बणाव।

में रेखांकित अंश उक्त कथन को स्पष्ट करते हैं।

(ग) 'सतसई' की भाषा की एक अन्य विशेषता इसकी शब्दावली के उत्तरार्द्ध अंश में 'ड़्' ध्वनि के प्रति अधिक झुकाव की है, जो व्यंजन-विकार और प्रत्यय रूप में आयी है—

भड़ (४६-४) कड़ूंब <सं० कुटुम्ब, वहोड़ (वहोरि), अड़बां (अरब) <सं० अर्बुद, मींत-ड़ा (१०६-१), माय-ड़ (८६-३), मंडाड़ै (मंड्+आड़ै) (२३२-४)।

(घ) पुस्तक की भाषा का 'ण्' की ओर झुकाव अधिक है। यह ध्वनि संस्कृत के 'ण्' की स्थानापन्न तो है ही, अनेक शब्दों में इसने 'न्' के स्थान को भी ग्रहण किया है।

प्राणां <सं० प्राण, मिलण—हि० मिलन (१२८), उडाण—हि० उड़ान् (१२७-४), उतारणो—हि० उतारना (१२८८-३)

(ङ) महाप्राणता की रक्षा के प्रति पुस्तक की भाषा में विशेष आग्रह मिलता है; वह न ग्रासमान[१] के समान है, न डा० एलन के निष्कर्षों[२] के समान। उसकी प्रवृति भिन्न है। यहाँ महाप्राणता शब्द में सर्वत्र रह सकती है।

ढाहणहार (१६०-४), मच्य (१४५-४), नह (१२४-१) मुट्ठि (१०२-१) मुंहारा (२३६-२)।

हेकलो (एकलो या अकेला), नह जैसे शब्दों में वह चारणों की उच्चारण-शैली[३] के फलस्वरूप आई है।

रूप-विचार

संज्ञा

'सतसई' की भाषा में व्यंजनांत और स्वरान्त दोनों प्रकार के प्रातिपदिक शब्द मिलते हैं—

---

१. भोलानाथ तिवारी—भाषा विज्ञान, पृ० ४३३।

२. डॉ० एलन बी० एस० ओ, ए० एस० १६५७ × × में छपे उनके लेख सम फोनोलॉजिकल करैक्टरिस्टिक्स इन राजस्थानी, पृ० ५।

३. इसका कारण डिंगल-काव्य की उच्चारण-शैली ही प्रतीत होती है।

व्यंजनान्त प्रातिपादिक

क-वर्गीय व्यंजनान्त—धड़क् (१७-१) लाख् (८१-२) खाग् (१२०-२) वघ् (१६-४)।
च-वर्गीय व्यंजनान्त—काच् (३५-२), मूंछ् (२५६-४), गज् (२१२-२)।
ट-वर्गीय व्यंजनान्त—वंट् (६६-४), जेठ् (३-३) डंड् (२१८-४), मूंढ् (२-४) जांगड़् (८१-१) वारण् (१५१-६)।
त-वर्गीय व्यंजनान्त—रावत् (१५३-२), हाथ् (६२-४), वींद् (६८-२) जोध् (८-२), दिन् (१२०-३)।
प-वर्गीय व्यंजनान्त—बाप् (८६-१), कड़ूंब् (६८-२), गरभ (५६-२) जाम (पुत्रीं)।
य-अंत्य—माय् (१२१-२)
र्-अंत्य—घर् (१२४)
ल्-अन्त्य—सूरजमल् (६-२)
ळ्—अंत्य—मैंगळ् (१५४-४)
व्-अंत्य—धव् (पति) (७८-२)
स्—अंत्य— वरस् (६०।२)
ह्—अंत्य—सिपाह् (१५२-४)

स्वरान्त प्रातिपादिक

अ—हथ्थ (१४५-२)
आ—पूंचाळा (२४६-३)
इ—गणवइ (१-३)
ई—घणी (८०-२), दोही (३५-४)
उ—गुरु (३-३)
ऊ—सिधू (८१-३)
ओ—माहेरो ८६, अजको ७२-३

सतसई के प्रातिपादिकों में कुछ स्वार्थक-प्रत्यय उल्लेखनीय हैं जिनका उपयोग लघुता, प्रियता या घृणा-सूचकता में होता है। वे हैं—

ड़्—मायड़ (८६-३), वाछड़ो (२७-३), मुंह-ड़ै (२७०-४)
व्—गींदवो (गयंद) ७३।३
क्—जिको (२५७-३) आदि सम्बन्धवाचक सर्वनामों में ऐसा प्रत्यय शब्द के मध्य में भी प्रयुक्त हुआ है।
-ह- डाहळ (११३-४)

लिंग

'सतसई' के शब्द या तो पुल्लिग में प्रयुक्त होते हैं या स्त्रीलिंग में। शब्दों का लिंग-विधान भी हिन्दी के समान है। *कुछ शब्दों में लिंग इस प्रकार है—*

(१) समय पलट्टी सीस (३-४) में 'समय' का प्रयोग स्त्रीलिंग में किया है। टीकाकारों ने भी इसे 'नारी जातीय शब्द' कहा है। जबकि इसका प्रयोग संस्कृत, हिन्दी व राजस्थानी में पुल्लिग में होता है।

(२) 'वीरां-रो कुल-वाट' (५-४) में 'वाट' शब्द का पुल्लिग-प्रयोग संस्कृत के अनुकूल है, पर हिन्दी के 'तुम्हारी बाट देखी' और राजस्थानी के 'गंगाजी की बाट' जैसे प्रयोगों के वह प्रतिकूल है। स्वयं कवि भी इसका प्रयोग एक अन्य स्थल पर स्त्रीलिंग में करता है—'किण दिन देखूं बाटड़ी।'

(३) इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर 'दीधी नर-नर दाह' में 'दाह' स्त्रीलिंग में प्रयुक्त है, जबकि यह पुल्लिग शब्द है।

संज्ञाएँ स्वरांत एवं व्यंजनान्त दोनों हैं—

संज्ञा की व्यंजनान्तता उसके लिंग-निर्णय में सहायक नहीं है। व्यंजनान्त (उच्चारण में) संज्ञाएँ दोनों लिंगों में प्रयुक्त हुई हैं—

पुल्लिग	स्त्रीलिंग
साव् (पुत्र) (६०-२)	घण् (२५८-१)
वींद् (५६-४)	नींद् (६८-८)
सींह् (५६-४)	जाम् (७८-४) (पुत्री)

न संज्ञा शब्दों की स्वरान्तता लिंग-निर्णय में सहायक है—

पुल्लिग	स्त्रीलिंग
गणवइ (गणपति) (२-३)	तिथि (३-३)
ढोली (१५-१)	लोहारी (१४५-१)

फिर भी 'सतसई' की ओकारान्त संज्ञाएँ पुल्लिग में होती हैं। यदि यह कह दिया जाए कि राजस्थानी के अनेक प्रातिपदिक शब्द निर्लिंगीय हैं और उनके -'ओ' प्रत्यय लगाने से वे पुल्लिग शब्द और -'ई' प्रत्यय लगाने से स्त्रीलिंग शब्द बनते हैं तो अत्युक्ति नहीं होगी; जैसे—

निर्लिगीय प्रातिपदिक शब्द	पुल्लिग शब्द	स्त्रीलिंग शब्द
नीदाण्	नीदाणो (सोया हुआ आदमी) (२१६-१)	नीदांणी
कळेज्	कळेजो (२४२-१)	कळेजी
वाछड़्	वाछड़ो (२७-३)	वाछड़ी

पर अनेक शब्द ऐसे हैं जो ओकारान्त में 'पुल्लिग' तो हैं, पर उनका स्त्रीलिंग नहीं मिलता है, जैसे—भरोसो (१६०-३), वधावणो (२५७-१)

स्त्रीलिंग का दूसरा प्रत्यय -अण है, जो प्रायः कर्तृवाचक संज्ञाओं में मिलता

है। जैसे—ढोलण (ढोल्+अण) <ढोली (१५-१), साथण (साथ+अण) <साथी (२५६-१), दरजण (२७३)।

-णी—स्त्री वाचक अन्य प्रत्यय है जो कर्तृवाचक संज्ञाओं के साथ लगता है; जैसे—रंगरेजणी (रंगरेज+णी) < रंगरेज, जोगणी (जोग+णी) <जोगी (१४६-१)

-आणी—यह स्त्रीवाचक प्रत्यय कुछ शब्दों में मिलता है; जैसे—ठकुराणी (ठाकुर+आणी) <ठाकुर (५१-१)

उपर्युक्त सभी प्रत्यय '-ई' रूपग्राम के संरूप हैं, क्योंकि ये परस्पर परिपूरक वितरण में है। '-ई' रूपग्राम इस आधार पर माना जाना चाहिए कि अनेक शब्द-रूपों में—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, कृदन्त, क्रिया आदि रूपों में—स्त्री-प्रत्यय—'ई' प्रत्यय प्रयुक्त होता है, अन्य प्रत्यय तो अपना अस्तित्व संज्ञा शब्दों तक ही रखते हैं—

क्रिया रूपों में (१) कै धण माट विलोवसी (८३१-३)
(२) दीधी घर-घर जोगणी (१४२-१)
विशेषण रूपों में (१) बीजो दीठां कुळ वहू (२४६-३)
(२) दरजण लांबी आंगिया (२७३-१)
सम्बन्ध कारकीय परसर्ग में—ओपै वाड़ी अमल री (१८८-१)
राजां कुल-री रीत (३८-४)
कृदन्तीय रूपों में वळती आखै वीर धण (२५-१)
फरती-रा लीधा फिरै (२६३-३)

और ये व्याकरणिक रूप उनसे अन्वित संज्ञा-शब्दों के लिंग-बोध कराते हैं। अनेक अवस्थाओं में तो लिंग का निर्धारण इन्हीं के द्वारा संभव है (जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है)।

वचन

'सतसई' से संज्ञा-शब्दों का प्रयोग दोनों वचनों में मिलता है—एकवचन और बहुवचन में।

अनेक शब्द ऐसे हैं जिनके एकवचन और बहुवचन के रूप समान हैं—

एकवचन	बहुवचन
दिन	दिन (भाट घणां दिन भाखला (१३-१)
जांगड़ (ढ़ोली)	जांगड़ (भाभी ! जांगड़ आपणा) (८१-१)
घाव्	घाव् (भालां हंदा घाव) (२४०-४)
पख व दाग	पख, दाग (दो-ही पख विण दाग) (२५४-३)

पुल्लिग शब्दों के बहुवचन का प्रत्यय-'आ' है, जो ओकारान्त शब्दों में स्पष्ट कार्य करता दीख पड़ता है—

एक वचन	बहुवचन
पाव्णो (१२८-३)	पावणा (विण नूतै धण पावणां) (१२५-१)
सुड़डो	सुहड़ा (सुहड़ा और सिकारसी) (२४-१)
माथो	माथा (माथा जिण दिन मांगणा) (५०-३)

स्त्रीलिग में यह प्रत्यय—आँ रूप में मिलता है—

एकवचन	बहुवचन
सती	सतियाँ (ठकुराणी सतियाँ मणैं) (५१-१)
ढाल	ढाळाँ (उरसाँ ढालाँ ऊघड़ी) (१४३-१)
कीड़ी	कीडियाँ (कण-कण संचै कीड़ियाँ) (२२१-३)

बहुवचन को विकारी रूपों का प्रत्यय उभय लिंग में-आँ है—

१. कटकाँ ढाहि कळज (१६६-४)
२. तेगां-री धण त्रास (२६६-२)
३. हूँ बलिहारी कायराँ (२८२-३)
४. पड़ै डहोळा छातियाँ (१५२-१)
५. रंग अ-चाही जोगियाँ (१६२-१)

ईकारान्त शब्दों में -'आँ' या -'आ' प्रत्यय लगने पर -'ई' ह्रस्व हो जाती है और ह्रस्वीभूत 'इ' तथा प्रत्यय के बीच अर्द्ध स्वर 'य्' का आगम हो जाता है।

'सतसई' में संज्ञा-शब्दों का वचन-बोध विशेषण, सम्बन्ध-कारकीय परसर्ग, क्रिया-रूप, कृदन्त तथा सर्वनामों में उसी प्रकार होता है जिस प्रकार इनसे लिंग-बोध होता है; जैसे—

विशेषण द्वारा वचन-बोध

भाट घणां दिन भाखता (१३-१) में 'दिन' का बहुवचन में होना 'घणां' विशेषण से ज्ञात होता है।

क्रिया द्वारा वचन-बोध

(२) काय कलाली ! छल कियो (११२-१) में 'कियो' की एकवचनीय ओकारान्तता 'छल' की एकवचनता प्रकट करती है।

क्रिया द्वारा वचन-बोध

(३) वागा ढोल विणास (१११-२) में 'ढोल' के बहुवचन का बोध 'वागा' क्रिया से होता है।

(४) घर-घर वैर विसाविया (१२२-१) में कर्मकारकीय 'वैर' शब्द के बहुवचन का बोध 'विसाविया' से होता है।

परसर्ग द्वारा वचन-बोध

कुंभकरण रा भाड़िया, जाणै बंदर जाय। (२०२-३,४) बहुवचन 'बंदर' का बोध 'रा' परसर्ग से होता है।

कृदन्त द्वारा वचन-बोध

अन्तिम उदाहरण का भूतकालिक 'भाड़िया' 'बंदर' के बहुवचन होने का संकेत देता है।

सर्वनाम द्वारा वचन-बोध

(क) वै दिन जो कायर वणो (७६-३) 'वै' से बहुवचन 'दिन' का बोध।
(ख) ओ गहणो, ओ वेस अब (२६८-१) 'वेस' की एकवचनता का बोध 'ओ' सर्वनाम से होता है, जो यहाँ विशेषण रूप में प्रयुक्त है।
(ग) अरिया जे व्रण आवणा (२३६-१) में 'व्रण' की बहुवचनता 'जे' से प्रकट होती है।

कुछ बहुवचन ज्ञापक शब्दावली द्वारा भी शब्दों के बहुवचन का बोध कराया गया है—

(१) मरतां सब खेती मिटै (१२५-१) खेती का बहुवचन में होना 'सब' से प्रकट होता है।

एकवचन के लिए बहुवचन क्रिया का प्रयोग संज्ञा की आदरार्थकता में हुआ है—धावाँ कंत पधारिया (२१२-३)।

कारक

'सतसई' की भाषा उस अवस्था की प्रतिनिधि है, जिसमें संज्ञा-शब्द विभिन्न प्रकार की कारकीय अभिव्यक्ति करने के लिए कारकीय प्रत्यय तो पूर्णरूपेण अपनाये हुए थे, पर परसर्गों का आश्रय कभी-कभी ले पाते थे। इससे अभिव्यक्तिगत अस्पष्टता बनी हुई थी। 'सतसई' की भाषा में इस दृष्टि से वियोगावस्था कम मिलती है; उसकी संयोगावस्था ही संज्ञा रूपों में दिखाई देती है।

(क) 'सतसई' काव्य-पुस्तक है और काव्य-पुस्तक में शब्द-स्थापन का विशेष महत्त्व नहीं होता—अन्वय द्वारा अर्थ-ग्रहण किया जाता है—पर उसका सर्वथा तिरस्कार भी नहीं होता। 'सतसई' में कारक का बोध शब्द के स्थल-विशेष पर प्रयोग से भी होता है चाहे शब्द अपने निर्विभक्ति रूप में प्रयुक्त हो।

१. हरखै धी द्रिग लाय (५२-१) कर्त्ताकारकीय रूप
२. राणी इसड़ा रावतां, हाथां नींव वटाय (५०-३) कर्मकारकीय रूप
३. हेली ! दूध धपाड़िया। (२८८-३) करणकारकीय रूप
४. हूं बलिहारी राणियां, भ्रूण सिखावण भाव (५७-१२) संप्रदान „
५. रण पाखै दुमनो रहे (३०-१) अपादान „
६. बेटां दो घर बंट (१८३-४) } सम्बन्ध „
रजवट उलटी राह (२५६) }
७. पग-पग चूड़ी पाछटूं (७८-३) अधिकरण „

कर्ता और कर्मकारक में ऐसे उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, पर शेष कारकों में इनकी कमी है।

(ख) परसर्ग-रहित सविभक्ति रूपों द्वारा भी विभिन्न प्रकार की कारकीय अभिव्यक्ति हुई है—

१. कर्त्ताकारकीय रूप 'ऐ' व 'आं' विभक्ति-संयुक्त—
(क) आंक पळासां भूंपड़ो, दैवै कीध न हंत, (१०५-१,२)
(ख) उरसां ढालां ऊघड़ी (१४३-१)
२. कर्मकारकीय रूप—'आं,' 'इय' विभक्ति-युक्त—
(क) करकां ढाहि कळेज (१६६-४)
(ख) जम री मूछां ताणबो (२१८-१)
(ग) ढोलणिय घण तेड़वै (२३२-२)
३. करणकारकीय रूप—'आं' विभक्ति युक्त—
(क) हाथां नींव वटाय (५०-३)
(ख) खग धारां घोड़ा खुरां दावै अजका देस। (३६-३,४)
४. संप्रदान कारकीय रूप -'आं' विभक्ति-युक्त—
(क) पहली वाहण पाहुणा मंडीजै मनुहार। (१६३-३,४)
(ख) राणी इसड़ा रावतां, हाथां नींव वटाय। (५०-४)
५. अपादान कारकीय रूप -'आं' विभक्ति-युक्त—
(क) करूं पहाड़ां पार (२६-४)
६. सम्बन्ध कारकीय रूप -'आं' विभक्ति-युक्त—
(क) कुवणैतां कर कांपिया (१५१-३)
(ख) देखो देवर आछटै हाथळ हाथ्यां सीस (१६२-३,४)
(ग) भोग मिलीजै किम जठै, नरां नारियां नास (१०३-१,२)
७. अधिकरण कारकीय रूप -'आं' 'ऐ' तथा 'ए' विभक्ति-युक्त—
(क) उरसां ढालां ऊघड़ी (१४३-१)
(ख) वैरी वाडै वासड़ो (१२०-१)

(ग) आज घरे सासू ! कह (६९-१)

८. सम्बोधन कारकीय रूप -'आँ' विभक्ति-युक्त—

(क) कंत न छेड़ो ठाकरां ! (२१८-१)

(ख) ईं घर आया रावतां ! (२१५-२)

उपर्युक्त विश्लेषण से ज्ञात होता है कि पुस्तक की भाषा में 'आँ' परसर्गरहित सविभक्ति शब्दरूपों की प्रचुरता है। बहुवचन की विभक्ति-'आँ' है, जो सभी कारकीय रूपों में मिलती है। एकवचन की विभक्ति -'ए' है जो कर्त्ता, कर्म, संप्रदान व अधिकरण में मिलती है, पर प्रथम दो में इसका अत्यल्प प्रयोग हुआ है। अधिकरण में-'ए' विभक्ति भी मिलती है।

(ग) सतसई की भाषा में परसर्गों की अल्पता है—

१. कर्त्ताकारकीय व अपादान कारकीय रूपों में कोई परसर्ग नहीं मिला है।

२ कर्मकारकीय रूप का परसर्ग है—नूं

(क) पायो हेली ! पूत नूं सोमल थण लपटाय (६३-१,२)

३. करण कारण के परसर्ग—थीं, हूंत, हूं

(क) देखीजै निज गोख-थी (१९१-१)

(ख) हूँ भड़ हूंत विसेस (२७९-४)

(ग) मे थण रहणौ हाथ हूं (२६०-३)

४. संप्रदान-कारक का परसर्ग—नूं

(क) घण नूं आळगसी घणो
सुणियाँ वागो धार। (७१-१,२)

५. सम्बन्ध कारक के परसर्ग—री, रा, रे, रो, चा, हंदा, हंदै

(क) मिजमानी री वार (१३६-४)

(ख) देराणी द्रिग गीध -रो (१३५-१)

(ग) फूलंता रण कंत रे (१४३-३)

(घ) मंदर रो अरड़ाट (१६४-४)

(ङ) गुडै धणी चा गाजणा (१३५-३)
कोसाँ-चा सुण ढोलड़ा (१३५-३)

(च) मालाँ हंदा घाव (२४०-४)

(छ) जाँचाँ हंदै तापणै (५८-३)

६. अधिकरण कारक का परसर्ग—में

(क) पोत जणी में मोतियाँ, जूड़ो मैंगळ दंत। (१०२-३, ४)

(ख) चंवरी में पीछाणियो कंवरी मरणो कंत। (१००-३,४)

(घ) इन परसर्गों में सम्बन्ध कारक के परसर्ग बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। ये भेदक और भेद्य (अधिकरण और अधिकृत सम्बन्ध) के सम्बन्ध के साथ भेद्य के लिंग

वचन व कारक की भी अभिव्यक्ति करते हैं—

ओकारान्त परसर्ग—मेद्य पुल्लिग, एकवचन और अविकारी कर्ता

आकारान्त परसर्ग—मेद्य पुल्लिग, बहुवचन और अविकारी कर्ता व अधिकरण के अतिरिक्त कारक रूप

ईकारान्त ,, मेद्य स्त्रीलिग, सभी वचन व सभी कारकों में

ऐकारान्त ,, मेद्य पुल्लिग और अधिकरण कारक में

(ङ) 'सतसई' में कुछ शब्द परसर्गों के स्थान पर प्रयुक्त हुए हैं—

(१) बाजां रै सिर चेतणों, भूणां कवण सिखाय (५६-३, ४) करण-कारक

(२) कंत परां बलिहार (१८०-२) संप्रदान कारक।

सर्वनाम

'सतसई' में सभी प्रकार के सर्वनाम प्रयुक्त हुए हैं। पुरुष वाचक तथा सम्बन्ध वाचक सर्वनामों के प्रयोगों का आधिक्य है। वर्तमान राजस्थानी सर्वनाम-रूपों में विद्यमान लैंगिक अभिव्यक्ति का पुस्तक की भाषा में पूर्ण प्रस्फुटन नहीं हुआ है। अतः सर्वनामों के लिंग-निर्धारण के लिए क्रिया-विशेषण आदि शब्द-रूपों की ओर देखना पड़ता है। किसी एक रूप का विभिन्न कारकों में प्रयोग उनकी उल्लेखनीय विशेषता है—

सतसई के सर्वनाम रूप ये हैं—

(१) पुरुष वाचक सर्वनाम—इसके तीन भेद मिलते हैं—

(क) उत्तम पुरुष—इसके दोनों रूप इस प्रकार है—

अविकारी रूप—मैं, हूँ

विकारी रूप—मो, मूझ, म्हा

उपर्युक्त रूप एक वचन के है। बहुवचन के रूप सतसई में नहीं मिलते अविकारी रूपों का एकवचनीय प्रयोग देखिये—

मैं तो विन सव हाँसिया

× × ×

हूँ भड़ हूंत विसेस (२७६-१, ४)

मो, मूझ व म्हां में से प्रथम दो के स्वतंत्र प्रयोग विविध कारकों में मिलते हैं, पर तृतीय—म्हा के साथ सर्वत्र सम्बन्ध कारकीय परसर्ग रो, री आदि मिलते हैं—

(१) अतरो अंतर मूझ पै (६३-३) सम्बन्ध कारक में प्रयोग

(२) भी थण जहर समान (६२-३) ,,

स-परसर्गीय रूप इस प्रकार हैं—

(१) मो-नूं ओछै कंचुवै
हाथ दिखातां लाज। (२६६-३.४) कर्मकारकीय रूप

विकारी रूपों का सविभक्ति प्रयोग भी मिलता है—

पड़तो मोय पुगाय (२८६-४)—कर्मकारक में -'य' विभक्ति

(ख) मध्यम पुरुष	एकवचन	बहुवचन
अविकारी रूप	तू	थे
विकारी रूप	तो, था, तूझ	थां

एक वचन के विकारी रूपों का प्रयोग स्वतंत्र और परसर्ग सहित दोनों रूपों में मिलता है—

स्वतंत्र प्रयोग

(१) लोहारी! तो पीव-रा, वले न पूजूं हथ्थ (१४५-१, २) सम्बन्ध कारकीय प्रयोग
(२) तूझ मडाई होय (२७६-४) सम्बन्ध कारकीय प्रयोग

स-परसर्ग प्रयोग

कुळ थारो रण पौढणू (८७-१) सम्बन्ध कारकीय रूप

बहुवचन का अविकारी रूप -'थे' है जिसका इस प्रकार प्रयोग होता है—

भामी थे गिणता खरच (१९१-३)

यहाँ कर्त्ता कारकरूप है, पर इसका प्रयोग एकवचन के लिए आदरार्थकता में हुआ है।

बहुवचन के विकारी रूप—थां का प्रयोग इस प्रकार मिलता है—

बाई! थां रो वीर (१९८-४)

यहाँ 'थां' एकवचन के लिए आदरार्थकता में प्रयुक्त है। इस प्रकार के प्रयोग राजस्थानी की अपनी विशेषता है।

उपर्युक्त सर्वनाम-प्रकारों में लिंग-भेद नहीं मिलता है—

(ग) अन्य पुरुष	एकवचन	बहुवचन
अविकारी रूप	सो	वै
विकारी रूप	ति, तिण, उण, सो	उण, सो, ति

इस सर्वनाम के विकारी रूप ही अधिक मिलते हैं। लैंगिक भिन्नता के उदाहरण पुस्तक में नहीं मिलते हैं। अविकारी रूप में 'सो' और 'वै' का प्रयोग इस प्रकार हुआ है—

(क) तो भी सो धक कंत री (२४२-३)

(ख) वै भड़ घालै हाथ (३३-४)

दोनों उदाहरणों में सर्वनामों का प्रयोग विशेषण रूप में है। विकारी रूपों के प्रयोग इस प्रकार हैं—

(क) तिण-रो वाल्हो वाछड़ो (२७-३) सम्बन्ध कारक में
(ख) वीर तिको ही वींद (३७-४) ,,
(ग) उण भड़ एक महेस (२७९-२) करण कारक रूप में
(ख) सो सीलै मो नाह (१९१-४) कर्म ,,

(२) निश्चय वाचक सर्वनाम—

इसके दो भेद होते हैं— (क) निकटवर्ती
(ख) दूरवर्ती

(अ) निकटवर्ती—

अविकारी रूप	ओ, एह
विकारी रूप	आ (स्त्री) इण, ई

अविकारी रूपों में उदाहरण हैं—

(क) ओ गहणो, ओ वेस अब, कीजै धारण कंत (२६८-१,२) कर्ताकारक रूप में।
(ख) ईखो संगत एह (५३-२)

विकारी रूपों के उदाहरण हैं—

(क) इण-रो भोगण हार जे (१६५-३) सम्बन्ध कारक में
(ख) ई रजपूती वाह। (२१५-४) सम्प्रदान कारक में
(ग) आ कमणैती कंतरी और न पूगै ओज (१७८-१,२) कर्मकारक में

(आ) दूरवर्त्ती—पुरुष वाचक सर्वनाम के अन्य पुरुष वाले रूपों से इसके रूप अभिन्न हैं।

(३) अनिश्चय वाचक

इस प्रकार के सर्वनाम का प्रयोग सतसई में नहीं मिलता है। कुछ ऐसे शब्द अवश्य हैं, जो इस सर्वनाम की भाँति प्रयुक्त हैं—

आन—निरदय दीठा आन भड़ (१८५-१) विशेपण रूप में प्रयुक्त है।
ओरां—औरां-रा कर ओरठ (१८४-१)
सब—मैं सो बिन सब हाँसिया (२७९-१)

(४) सम्बन्ध वाचक

	एकवचन	बहुवचन
अविकारी	जिको	जे
विकारी	जि, जिण, जेण	ज्यां

अविकारी रूपों के प्रयोग इस प्रकार हैं—

(क) हथलेवै जुडियो जिको (२५७·३)-विशेषण रूप में

(ख) अरियां जे त्रण आपणां (२३७-१) विशेषण रूप में

विकारी रूपों के प्रयोग इस प्रकार मिलते हैं—

(क) जिण रै होदै जेठ (२३७-४) सम्बन्ध कारक

(ख) जिके तमासो जाण (१६६-४) कर्म कारक में

(ग) जाणो मामी ! जेण गज, लटकंतो नीसाण (१६४-१२) विशेषण रूप में, अधिकरण कारक में।

नित्य सम्बन्धी

नित्य सम्बन्धी सर्वनाम रूप में 'सो' शब्द का प्रयोग मिलता है जिसके प्रयोगों पर 'अन्य पुरुष' उपशीर्षक से विचार किया जा चुका है। उसके विकारी रूप 'तिण' का प्रयोग इस प्रकार मिलता है—

जिण वन भूल न जावतां
× × ×
तिण विन जंबुक ताखड़ा (२०-३)

यहां अधिकरण कारक में विशेषण रूप में 'तिण' शब्द प्रयुक्त है।

'जिके' सम्बन्ध वाचक सर्वनाम का प्रयोग नित्य सम्बन्धी रूप में मिलता है—

अरियां जे त्रण आपणा
× × ×
जाण न थव दीधा जिके (२३६-३)

'वै' अन्य पुरुष सर्वनाम भी इस रूप में प्रयुक्त हुआ है—

रांड हुवा जीवै जिके
× × ×
वै मड़ घालै हाथ। (३३-४)

(६) प्रश्नवाचक

इस सर्वनाम के नामिक 'क' व्यंजन को दो स्वरों के साथ प्रयुक्त देख सकते हैं—या तो अग्रस्वर 'ई' या पश्च स्वर 'अ' या उसके अन्य ध्वनि-रूपों के साथ—

अविकारी रूप—की, कवण, कुण
विकारी रूप—किण, किसूं

इनके उदाहरण हैं—

(क) रीत भरंता ढील की ? (६२-३) अविकारी कर्ता रूप में
(ख) कवण हकालै सींह ? (१७-४) ,,
(ग) किण कीध किण हथ्थ (१०९-२) करण कारक रूप में
(घ) किसूं बुलायो काळ (२३२-२) ,,

निज वाचक

इसके रूप इस प्रकार हैं—
अविकारी रूप—आप, निज
विकारी रूप-आपणा, आप-रा, निज

उदाहरण हैं—

(क) आप बसाया झूंपड़ा (अविकारी कर्त्ता रूप में)
(ख) अरियां जे त्रण आपणा (२३६-१) सम्बन्ध कारक रूप में
(ग) आंटो सासू आपरो (१६७-१) ,,
(घ) देखीजै निज गोख थी (१६१-१) अपादान कारक रूप में

आदरवाचक

आदर वाचक 'आप' का प्रयोग अल्प हुआ है। इसके स्थान पर अन्य पुरुष वाचक बहुवचन सर्वनाम का प्रयोग मिलता है—

बाई ! थां रो वीर (१९८-४)

'सतसई' में कुछ संयुक्त सर्वनाम भी मिलते हैं—
(१) सो-कुण—सो-कुण कंत समान (१७३-१)
कुछ अवस्थाओं में विशेषण का प्रयोग सर्वनाम की तरह हुआ है—
(१) दूजो की जम डंड (.२१३-४)
(२) आधा किण सिर ओलसी (१७६-३)

विशेषण

सतसई में विशेषणों का प्रयोग कम मिलता है। इसके विशेषण रूपों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है—

(क) स-प्रत्यय विशेषण
(ख) अप्रत्यय विशेषण

(क) अप्रत्यय विशेषण वे हैं जो वाक्य में प्रयुक्त होने के लिए किसी प्रत्यय को अपनाते हैं और अपने विशेष्य के अनुसार स्वरूप बनाते हैं—

(१) एको रंग उतारणो
जेठ न दीठो जंग। (१८८-३,४) } पुल्लिग के ओकारान्त
(२) कंत घणो ही सांकड़ो (१८६-१) } विशेषण

(३) काळी अच्छर इक न कर (२६१-१) } स्त्रीलिंग के ईकारान्त
(४) जा घर खेती ऊजळी (२८-१) } विशेषण

इनमें से पुल्लिग ओकारान्त विशेषण का विकारी रूप आकारान्त है, जो सभी विशेष्य रूपों के साथ प्रयुक्त होता है—

(१) काला दरड़ करंत (२०८-४)
(२) नीचा करसी नैण (२६४-४)

ऐसे स्त्रीलिंगीय विशेषणों की विशेषता उनकी ईकारान्तता है, जो सभी रूपों में पाई जाती है—

(१) पहली वाहण पाहुणां
मंडीजै मनुहार। (१६३-३,४) (यहां विशेष्य स्त्री 'मनुहार' है)
(२) खागां सहणी खांत (१७२-२)

पर कहीं-कहीं ईकारान्त विशेषण (जहां वह संस्कृत पुल्लिग विशेषण से आया है) भी पुल्लिग में प्रयुक्त हुआ है—

ढोल सुणांतां मंगळी (१००-१)

यहां मंगळी > संस्कृत मांगलिक से बना है।

बहुवचन के विकारी रूप का प्रत्यय-आं है, जिसका प्रयोग इस प्रकार मिलता है—

लाखां वातां एकलो—में 'लाखां' और 'वातां' का प्रत्यय विधान अवलोकनीय है। यह विशेषण-विशेष्य की एकरूपता संस्कृत शैली पर है।

कहीं विशेषण ने ही विशेष्य के कारक-रूप को अपना लिया है और विशेष्य अविकृत है (० प्रत्यययुक्त है)—

पहर चवत्थै पोढियो (११७-१) में 'चवत्थै' शब्द अधिकरण की '-ऐ' विभक्ति युक्त है।

(ख) 'सतसई' के कुछ विशेषण अप्रत्यय भी हैं—

(१) पैलां दहल अपार (२०७-२)
(२) घण तोपां घर धूजिया (१५४-१)

'घण' जैसे विशेषण के सप्रत्यय होने के उदाहरण भी 'सतसई' में मिल जाते हैं—कंत घणामें सांकड़ो (१८६-१)

(क) गुण वाचक विशेषण—

(१) पैलां दहल अपार (२०७-२)

(२) नीचा करसी नैण
(३) काळीं अच्छर। आदि इसके उदाहरण हैं।

(ख) संख्यावाचक विशेषण के विविध प्रकार मिलते हैं—
(१) पैला सुणिया पाँच सै (१७६-१) (गणना वाचक)
(२) पहली वाहण पाहुणाँ मंडीजै मनुहार। (१६३-४) (क्रम-वाचक)
(३) ऊगै जिम दूणा अमल (१५६-१) (आवृत्ति वाचक)
(४) मंच अधूरै भावतो (१७५-३) (अपूर्ण संख्या वाचक)

(ग) परिमाण वाचक विशेषण 'अतरो अन्तर' (६३-३) जैसे वाक्यांशों में देखा जा सकता है।

सभी प्रकार के विशेषणों का प्रत्यय विधान संज्ञा के समान है।

क्रियापद

'सतसई' के क्रिया-पद हिन्दी के समान वियोगावस्था को नहीं प्राप्त हुए हैं। वे प्रायः प्रा० मा० आ० मा० से विकसित सोपान रूप में दिखाई देते हैं। इस लिए उनमें न सहायक क्रिया की सहायता से अभिव्यक्ति को सँभाला गया है और न संयुक्त क्रिया-रूपों के प्रयोग-बाहुल्य द्वारा उसे समर्थ व सशक्त बनाया गया है। भूतकाल रूपों तथा कृदन्तीय रूपों में बने क्रियारूपों में 'सतसई'-कार का अभिव्यक्ति-कौशल निहित है। क्रिया-रूपों की स्थिति ऐसी ही है जैसी संज्ञा-रूपों की। वहाँ तो कुछ परसर्गों ने अभिव्यक्ति को सँभाला है, पर यहाँ सहायक क्रिया के अभाव में अभिव्यक्ति शिथिल हो गई है। यहाँ एक क्रिया-रूप अनेक प्रकार के कालों की अभिव्यक्ति करता है और अनेक क्रियारूप एक काल की अभिव्यक्ति करते हैं।

'सतसई' की अधिकांश धातुएँ एकाक्षरी हैं। वे स्वरान्त तथा व्यंजनान्त हैं—

(क) स्वरान्त धातुएँ

आ (२-१), ला (१-१), गा (१-१), खो (१६-१), ले (३१-३) जो (देखना) (१४८-४), हो, जी (६५-३) आदि।

(ख) व्यंजनान्त धातुएँ

कढ् (निकलना) (१२-३) तंड् (नाचना) (१७-३), मिच् (नेत्र बंद करना) (१७-३), पूग् (पहुँच) (१४६-४), वार् (न्योछावर करना) (१०६-३), सुण् (१०४-१), पिछाण् (१००-३) आदि।

कुछ धातुएँ उपसर्ग के योग से बनी हैं—

आ+हण् (मारना) (१८-३) वि+लग्—लगना (१०२-२), वि+लस्

(शोभित होना) (१०८-१), अवेख् (अव+ईख्—देखना) (२४६-१)

कुछ धातुएँ दो या अधिक अक्षरों की भी हैं—

दकाल् (११-२), हकाल् (१७-४)

ऐसी धातुएँ संज्ञाओं से बनी हैं और नामधातु-श्रेणी की हैं)

प्रेरणार्थक धातु-रूप

ऐसे धातु-रूपों का व्युत्पादक प्रत्यय -आ,-आव् या -आ -ड़् है, जिनके धातु में संयोग के साथ उसके प्रथम स्वर का ह्रस्वीकरण हो जाता है—

छिप्+आ ~~~ आव्=छिपा ~~~ छिपाव (११०-१)
दिख्+आ ~~~ आव्=दिखा ~~~ दिखाव् (२०८-४)
धाप्+आ ~~~ आड़=धपा ~~~ धपाड़ (२८८-३)
छोड़्+आ ~~~ आव्=छुड़ा, ~~~ छुड़ाव···

सतसई की भाषा में '-आव्' प्रत्यय का बाहुल्य है। 'आड़' प्रत्यय असामान्य है। इसका प्रयोग कुछ ही वस्तुओं के साथ मिलता है।

नामधातुएँ

नामधातुओं का प्रयोग 'सतसई' की भाषा में मिलता है। ऐसी धातुओं की संख्या अत्यल्प है। उनमें से एक-दो हैं—

बटक् (८६-४) ('बटका' संज्ञा से बनी है)
अपण् (२६१-२) (आपण सर्वनाम से बनी है)

इनका रूप-विधान साधारण धातुओं की तरह होता है।

वाच्य

'सतसई' में कर्त्तृ तथा कर्मवाच्यों के प्रयोग मिलते हैं। कर्त्तृवाच्य बनाने की प्रक्रिया संयोगात्मक अवस्था में है। हिन्दी के समान √जा-धातु के रूपों का प्रयोग करके इसका निर्माण नहीं किया जाता है। अपितु इसके लिए प्रत्ययों का उपयोग होता है जो धातु के साथ लगकर उसे कर्मवाच्य का रूप प्रदान करते हैं। इसकी प्रक्रिया ऐसी है—

आय् — प्रत्यय द्वारा — कह्+आय = कहाय (३०८)
ईज् — प्रत्यय द्वारा — सोच्+ईज्+ऐ=सोचीजै (१६०-२)
पेख्+ईज्+ऐ=पेखीजै (२६६-३)
अव् — प्रत्यय द्वारा — जाण्+अव्+इयो=जाणवियो
(भूत०) (६५-४)

इस प्रकार निर्मित धातुओं के रूप शेष क्रियारूपों के समान चलते हैं, उनमें

किसी भिन्न 'तिङंतों' को अपनाने की प्रक्रिया सतसई में नहीं है।

कृदन्त

'सतसई' की भाषा में कृदन्तों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी भाषा वह है जिसमें कृदन्तों ने क्रियारूपों का स्थान तो ले लिया था पर अर्थगत स्पष्टता लाने के लिए उन्होंने उत्तरकाल में जिन सहायक क्रियारूपों को अपनाया था वे अपना अस्तित्व 'सतसई' तक नहीं बना पाए थे। अतः कृदन्तों में रूपात्मक स्पष्टता के साथ अर्थगत स्पष्टता नहीं मिलती है।

(क) वर्तमान कालिक कृदन्त

'सतसई' में वर्तमान कालिक कृदन्तों के दो रूप मिलते हैं—

(१) व्यंजनान्त धातुओं के साथ -अत या -अन्त प्रत्यय लगता है।

(२) वे जो स्वरान्त धातुओं से बनते हैं और जिनमें -अत प्रत्यय के पूर्व-'व्'-का आगम विकल्प रूप से होता है। रूप इस प्रकार हैं—

(क) लटक्+अत्=लटकंतो (१६४-१)
(ख) कूक्+अत्=कूकतो (६०-१)
(ग) जा+अत्=जातां (६८-१)
(घ) जी+व्+अत=जीवतां (२५१-१)
(ङ) मर+अन्त=मरंतां (६२-३)

उपर्युक्त कृदन्तों के रूप सप्रत्यय विशेषणवत् होते हैं। अविकारी रूप में इनके प्रत्यय एकवचन व बहुवचन में क्रमशः -ओ एवं -आ हैं। विकारी रूपों के वचनगत रूप -आ एवं-आँ प्रत्यययुक्त होते हैं।

तात्कालिक कृदन्त

ऐसे कृदन्तों के रूप वर्तमान कालिक कृदन्तों से अभिन्न हैं—बोलंता जल लाव (२४०-२) में तात्कालिकता का बोध किसी व्याकरणिक युक्ति—प्रत्यय या शब्द से न होकर प्रसंग-विशेष में कृदन्त रूप के प्रयोग पर निर्भर करता है।

नजर पडंता नाह (१५२-२) से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

भूतकालिक कृदन्त

'सतसई' में भूतकालिक कृदन्तों की रचना निम्न प्रकार से सम्पन्न होती है—

(क) धातु+ओ प्रत्यय के योग से
(ख) 'क' के अनुसार, पर -ओ प्रत्यय के पूर्व -'इय' प्रत्यय जोड़कर

(ग) 'क' के अनुसार, पर -ओ प्रत्यय के पूर्व -आण प्रत्यय जोड़कर इसके उदाहरण ये हैं—

(क) विणट्ठ्+ओ=विणट्ठा (२४१-४) (नैण विणट्ठां नाह)

(ख) घपाड़्+इय+ओ=धपाड़ियो (२८८-३) (हेली दूध धपाडियो)

(ग) पूज्+अण्+ओ=पूजाणो (७४-१) (पूजाणो गज मोतियां)

भूतकालिक कृदन्तों के अविकारी एवं विकारी रूप वर्तमानकालिक कृदन्तों के समान हैं। इनका प्रयोग विशेषणवत् होता है।

स्त्रीलिंग की प्रक्रिया धातु+ई प्रत्यय के योग से सम्पन्न होती हैं। ऐसे शब्दों की रूप-रचना ईकारान्त संज्ञा-शब्दों के समान है।

काल-रचना

सामान्य वर्तमान काल या वर्तमान निश्चयार्थ

इस काल की रचना इन प्रत्ययों द्वारा होती है—

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	-ऊं	-आं
मध्यम पुरुष	-ऐ	-ओ
अन्य पुरुष	-ऐ	-ऐ

उदाहरण इस प्रकार मिलते हैं—

(१) सदा कहाऊँ दास (१-१)
(२) करूं पहाडां पार (२६-१) } एक वचनीय रूप
(३) वाढां चाबुक-वैण (१२-३)—बहुवचन
(४) वै भी सुणतां ऊफणै (७-३)—अन्य पुरुष बहुवचन
(५) कायर री घण यूं कहै (२८०-१)—अन्य पुरुष एकवचन
(६) मोळा की चहरो मड़ां (१२-१)—मध्यम पुरुष बहुवचन

ऐसे प्रत्ययों के पूर्व स्वरांत धातुओं के पश्चात् -व- जोड़ दिया जाता है। वर्तमान निश्चयार्थ की अभिव्यक्ति उपर्युक्त प्रत्यय-विधान के अतिरिक्त अन्य कई रूपों से हुई है—

(क) -आय प्रत्यय द्वारा (१) सो वानैत कहाय (३०-४) कर्मवाच्य में
(२) सकट हचक्का खाय (२७-२) कर्मवाच्य में

(ख) -अत प्रत्यय द्वारा (१) मूँछाँ भूँह चढंत (१००-१)
(२) जाणां विरद जपंत (१३-४)

(ग) -य प्रत्यय द्वारा (१) रावत जायी डीकरी, सदा सुहागण होय। (२५५-३,४)

(२) लोह चिणां रै चावणै, दांत विहूणा थाय।
(२१६-१,२)

(घ) -ए प्रत्यय द्वारा —रण पाखे दुमनो रहे (३०-१)

वर्तमान संभावनार्थ—इस काल की अभिव्यक्ति वर्तमान कालिक कृदन्तों के प्रयोग से होती है—

वसण सती धण रंगती
दीधी आस छुड़ाय (२७४-३,४)

भूत निश्चयार्थ

इसका प्रत्यय-विधान इस प्रकार है—

	पुल्लिग		स्त्रीलिंग
	एकवचन	बहुवचन	उभय वचन
उत्तम पुरुष	-ओ- इयो	-आ- इया	-ई
मध्यम पुरुष	-ओ- इयो	-आ- इया	-ई
अन्य पुरुष	-ओ- इयो	-आ- इया	-ई

उपर्युक्त तालिका से यह ज्ञात होता है कि सभी पुरुषों में पुल्लिग—एकवचन का प्रत्यय -ओ है और बहुवचन का -आ। स्त्रीलिंग में -'ई' प्रत्यय आता है। ये प्रत्यय धातु के बाद आते हैं। कुछ उदाहरण ये हैं—

(१) कै **दीठो** हय आवंतो (१५०-१)
(२) हेली कवण **सिखावियो** (१५०-३)
} कर्ता कारक, एकवचन पुल्लिग

(३) क. पोतां रै वेटा **थियो**
ख. घर में **बांधियो** जाळ
} कर्ता कारक, एक वचन, पुल्लिग

(४) पूत महा दुख **पालियो** (२६५-१)
(५) अकज गमायी आव (४-४) (कर्म—एक वचन, स्त्रीलिंग)
(६) समय पलट्टी सीस (कर्ता—एकवचन, पुल्लिग, पर स्त्रीलिंग रूप में प्रयुक्त)
(७) आणी उर जाणी अतुल (कर्म—स्त्रीलिंग, एकवचन)
(८) देराणी कुल ऊपजी (२५७-१) (कर्ता—स्त्रीलिंग, एकवचन)

कुछ क्रिया-रूपों में प्रत्यय और धातु के बीच -ध्- जोड़ दिया जाता है—

धातु+ध्+प्रत्यय (तालिका के अनुसार)
(१) लीधो धण नाळेर (२४६-४)
(२) दीधो लोह लुकाय (६९-४)
(३) दीधो फेर सुहाग (२८९-४)

यह रचना-विधान कुछ धातुओं से ही सम्बन्धित है; वे हैं—ले, दे आदि।

पूर्ण भूत

इस काल की अभिव्यक्ति के लिए कोई स्वतन्त्र रूप रचना नहीं है। भूत निश्चयार्थ के रूपों द्वारा ही इसकी अभिव्यक्ति प्रसंगाधीन होकर आती है—

(१) हथळेवै जुड़ियो जिको
हमैं न छूटै हाथ } (२५७-३, ४)

(२) अरियां जे त्रण आपणा
मुख-मुख लीधा माय } (२३६-२)

(३) वळण कढायो अतर घण
मुँहघो लेसी कोण } (२७५-३, ४)

में उक्तकाल के अर्थ प्रसंग के आधार पर ही ग्रहण किए जाएँगे।

अपूर्ण भूत

इस काल की अभिव्यक्ति सतसई में वर्तमान कालिक कृदंतीय रूप से हुई है। इसलिए इसमें वचन व लिंग-भेद भी मिलता है—

(१) भट घणा दिन भाखता (१३-१) (कर्ता—बहुवचन, पुल्लिग)

(२) दिन-दिन भोळो दीसतो (६५-१) (कर्म—एक वचन, पुल्लिग)

(३) कुळ थारो रण पौढणू
मोनूं कहती माय } (८७-१, २) (कर्ता—स्त्रीलिंग, एकवचन)

भविष्यत् निश्चयार्थ

इस काल-रचना का प्रत्यय -सी है, जो सभी पुरुषों, लिंगों और वचनों में मिलता है—

(१) चूड़ो जिन दिन चाहसी (कर्ता—स्त्रीलिंग, एकवचन)

(२) मुड़ियां मिलसी गींदवो (कर्म—पुल्लिग, एकवचन)

(३) भाला ऊ गिह भांजसी (२४-३) (कर्ता—पुल्लिग, एकवचन)

इसी -'सी' का ध्वनि-रूपांतर -'ही' प्रत्यय भी इसी काल की अभिव्यक्ति करता है, पर इसके उदाहरण अत्यल्प हैं—

हैकै साथ घपाड़ही (१६८-३)

इन नियमित प्रत्ययों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रत्यय भी इस काल की अभिव्यक्ति इस प्रकार करते हैं—

-आय लाखां वातां एकलो
चूंडो मो न लजाय (१०२-४) (लजायेगा)

-एस भव दूजै मेंटेस (२७३-४) (मेटेगा)

-आं रहियां नैड़े वीर ही
जाणां विरद जपंत (१३-३, ४) (जानेगा)

-ईजे जीव विणट्टा जे कढो,
नाम रहीजे नेक (७५-३, ४)

विधि—

इस क्रिया रूप के दो भेद 'सतसई' में मिलते हैं—

क—आदरार्थक

ख—सामान्य

विधि प्रयोग प्राय: मध्यम पुरुष में ही हुआ है—

(क) आदरार्थक विधि—

इसके प्रत्यय हैं -ईजै, ईजिये

१. सोचीजै न लगार (१९०-२)

२. लहंगै मूझ लुकीजियै (२६६-३)

३. दरजण ! लांवी आंगिया
आणीजै अव मूझ । } (२७२-१, २)

(ख) सामान्य विधि—

(१) इसमें धातु मूल रूप में ० शून्य प्रत्यय के साथ प्रयुक्त होती है—

(क) ऊठ थियो घमसाण (६२-४)

(ख) वाला ! चाल म वीसरे
(ग) वेटी ! वलण निवार } एकवचन के साथ

(२) -ए प्रत्यय द्वारा—
वाला ! चाल म वीसरे (६२-१) एकवचन के साथ

(३) -ओ प्रत्यय द्वारा—
नरां ! न ठीणों नारियां, ईखो संगत एह (वहुवचन के साथ)

(४) -य प्रत्यय द्वारा—
रण खेतां भिड़ जाय (६१-२)

पूर्वकालिक क्रिया

इस क्रिया-रूप की रचना अनेक प्रत्ययों से होती हैं। वे हैं—-आय, -कर, -० (शून्य), -ए, -र। इस क्रिया का प्रयोग अव्यय के समान होता है। उदाहरण हैं—

-आय् (क) आवै भोग उठाय (२५-४)
(ख) डाढ़ां प्रलय दिखाय (२४-४)

-अं तिण सूरां रो नाव ले (३१-३)
कस बांधै करवाळ (३२-२)
-ए भोला जाणे भूलिया (६०-१)
-र भोलो देर भुलाय (६१-४)
-कर इसे प्रत्यय कहना उपयुक्त नहीं है, अपितु यह संयुक्त क्रिया का उत्तरांश है, पर प्रत्यय रूप ही दिखाई देती है—डाकी ठाकर सहण कर (४०-१)

क्रियार्थक संज्ञा

इसका प्रयोग संज्ञा के समान होता है, पर लिंग-भेद इसमें नहीं होता और न वचन-भेद। यह रूप दो प्रत्यय द्वारा सम्पन्न होता है—

-अण—(व्यंजनान्त धातुओं के साथ)—चढ़णो (८२-१), लूटण (२२७-१)
स्वरान्त धातुओं के साथ -अण के पूर्व -व- प्रत्यय आता है—
पीवण, खावण

-व—लेवो (सो लेवो कुल सार) (१६७-१)

-ण—जाण न घव दीधा जिके (२६३-३)

वस्तुत: -'ण' प्रत्यय -'अण' प्रत्यय ही है जिसका आदि स्वर 'अ' धातुओं के साथ संधि को प्राप्त हो जाता है।

संयुक्त क्रियापद

'सतसई' में संयुक्त क्रिया के उदाहरण अधिक नहीं मिलते हैं। इसकी रचना में जा, ले, दे आदि के क्रियारूप उत्तरांश में काल के लिए प्रयुक्त होते हैं और मूल धातु के पूर्वकालिक रूप या संज्ञार्थक क्रिया-रूप पूर्वांश रूप में आते हैं। इसकी रचना इस प्रकार मिलती है—

मूल क्रिया का पूर्व कालिक रूप + गौण क्रिया का काल-रूप

(क)—१. लीधी तेग उठाय (६७-४)
२. लीधा लोह लुकाय
३. जम नरकां ले-जाय
४. हूं पच-हारी हूलसी (२११-३)

(ख) मूल क्रिया का संज्ञार्थक-क्रिया-रूप + गौण क्रिया का काल-रूप—जाण न घव दीवा जिके (२३६-३) (जाने नहीं दिया)

हाड़ौती लोकगाथा तेजाजी : एक आलोचना

वीर-पूजा की भावना लोक-मानस की एक विशेषता रही है। उसने अपने आस-पास या दूर—कहीं भी जो-कुछ पाया है उसी को स्वीकार कर लिया है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह केवल ऐसे ही वीरों को स्वीकार करे जो किसी महान् उद्देश्य को लेकर कर्म-क्षेत्र में उतरे हों। उसके लिए तो इतना ही पर्याप्त है कि वह वीर है। उसकी वीरता किस कोटि की है अथवा किस उद्देश्य से प्रेरित है यह उसकी भावना के लिए अतर्क्य है। लोक-मानस भावना-जगत् में पहुँचने के लिए तर्क का आश्रय नहीं खोजता है। इसीलिए हाड़ौती लोक-मानस ने झबर्‍या, पृथ्वीराज आदि तक को गाथाओं में बाँध लिया है।[1]

ऐसे लोक-मानस को सौभाग्य से तेजाजी नामक वीर की जीवन-कथा, जिसमें वीरता को प्रेरणा सर्वभूतहितकामना ने दी थी, मिल गई और वह अपनी सम्पूर्ण भावना से उस पर मुग्ध हो गया। तब फिर क्या था, एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व में उसने देवत्व का आरोप कर दिया।[2] उसका यह विश्वास भी कि विषधर के विष का कुप्रभाव इस वीर की कृपा से शान्त हो जाता है[3] धीरे-धीरे

---

१. झबर्‍या नामक चमार विद्रोही बनकर दस्युवृत्ति का अनुसरण करने लगा था। हाड़ौती में 'यो तो चम्मारां को छोरो झबर्‍यो मारलीनूं रे…" आदि शब्दावली में लोकगाथा प्रचलित है। × × × पृथ्वीराज मऊ का छोटा-सा जागीदार था जो दुराग्रही और क्रोधी था। उसने अनुचित कारण पर भी अपने मामा का वध किया था।

२. लोक-मानस में ऐसी परिणतियाँ प्रायः होती रहती हैं। देखिये डॉ॰ सत्येन्द्र, मध्य-युगीन हिन्दी साहित्य का लोक-तात्त्विक अध्ययन, पृ ३०

३. विश्व में सर्प की १७०० जातियाँ है ; जिनमें से केवल ३०० विषैली और घातक होती हैं। भारत और पाकिस्तान में १०० व्यक्ति प्रतिदिन सर्प-दंश से मरते हैं। यह स्मरण रखना चाहिये कि इतनी मौतें सर्प की विषक्रिया से नहीं होती हैं। इसका एक भाग भय और अज्ञान से भी मरता है!

के॰ जी॰ घारपुरे—दी स्नेक्स ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, चतुर्थ संस्करण पृ॰ २२ व १०६

पुष्ट होता चला गया; जिसको वपन करने में 'नाग' शब्द हेतु बनकर आया है।

'तेजाजी' हाड़ौती की प्रमुख लोक-गाथा है। यह गाथा इस क्षेत्र में एक मास तक गाई जाती है। इसका गायन एक मास पूर्व प्रारम्भ होकर भाद्रपद शुक्ल दशमी[1] को समाप्त हो जाता है। गाने की दो शैलियाँ हाड़ौती में प्रचलित हैं। एक शैली के अनुसार सभी गायक तेजाजी के झंडे के आसपास एकत्र होकर ढोलक और मंजीर के साथ गाते हैं और दूसरी शैली में कोई कुशल गायक नेतृत्व करता है और शेष समूह उसके अनुकरण पर गाता है। यहाँ भी वाद्ययंत्रों का उपयोग होता है। ये वाद्ययंत्र ढोलक, मंजीर और कभी-कभी अलगोजे होते हैं। वाद्ययंत्र एवं गायक के स्वरों में ऐसी लय रहती है मानों गीत उछलता-कूदता आगे बढ़ रहा हो।

लोकमान्यता के अनुसार किसी भी सर्प दंशित व्यक्ति से तेजाजी के नाम की 'डसी' (सं० दंश > प्रा० डस > हा० डस + ई = सूत्र-विशेष) बाँध देने पर वह विषक्रिया से मुक्त हो जाता है। वह सूत्र तेजा-दशमी को काटा जाता है, जिसे 'डसी काटना' कहते है। कहते है कि इस अवसर पर कई दिन या मास पूर्व सर्प-दंशित व्यक्ति विष-प्रभाव से युक्त हो जाता है और झूमने लगता है जिसे हाड़ौती में 'मॅड़ आना' (विषाक्तावस्था में तन्द्रायुक्त होना) कहते हैं। कुछ समय उपरान्त देवकृपा से वह व्यक्ति पुनः स्वस्थ हो जाता है।[2] इसी विश्वास पर हाड़ौती के ग्रामिणों में तेजाजी अति पूज्य देव बने हुए है और इस लिए वे उक्त तिथि पर व्रत रखते हैं और देवदर्शन करके कृतकृत्य होते हैं।

कथानक

तेजाजी इस गाथा के नायक है। उनका विवाह अति बाल्यकाल में मोडळ से हो जाता है; जिसका उनको स्मरण तक नहीं रहता है। ये बाल्यकाल से ही धार्मिक वृत्ति के हैं अतः ईश्वराधना में लगे रहते हैं। एक बार जब वे तालाब में स्नान करके ईश्वर की पूजा में बैठे होते है तब माना गूजरी उन्हें बताती है कि वे विवाहित है और उनकी पत्नी उसके गाँव की है। इस बात पर पहले तो उन्हें विश्वास नहीं होता है, पर माता के 'हाँ' कहने पर वे निश्चय कर लेते हैं कि अपनी ससुराल जाएँगे। उनकी माँ तथा भाभी उन्हें रोकती है, पर वे अपने निर्णय पर अडिग रहते हैं। तब उनकी एक शर्त होती है कि रक्षाबन्धन का त्यौहार

---

१. यह तेजाजी की पुण्यतिथि मानी जाती है और इसी तिथि को विभिन्न स्थानों पर मेले लगते हैं।

२. बूंदी में ऐसे अवसर पर एक सर्पदंशित कुतिया के शरीर से रक्त लेकर उसकी डाक्टरी परीक्षा की गई थी और उसके रक्त को विषयुक्त पाया था ऐसा वहाँ के तत्कालीन प्रधान मंत्री राबर्टसन के आदेश पर किया गया बताते हैं।

आ रहा है अतः पहले वे (तेजाजी) अपनी वहिन को उसकी ससुराल से ले आयें तत्पश्चात् अपनी ससुराल जायें । तेजाजी इस वात को स्वीकार कर लेते हैं और गाड़ी-बैल खरीदकर अपनी वहिन को लेने उसकी ससुराल चले जाते हैं । मार्ग में उन्हें कुछ लुटेरे मिलते है; जिन्हें वे यह वचन देकर आगे बढ़ जाते है कि लौटते समय मैं बहुत-सा धन लाऊँगा ।

वहिन की ससुराल में उनका भव्य स्वागत होता है, पर उसके सास-ससुर कृषि-कार्य की व्यस्तता के कारण उसे नहीं भेजते हैं । अतः उन्हें निराश खाली हाथ लौटना पड़ता है । जब वे गाँव की सीमा पर पहुँचते हैं तो पीछे से उनकी वहिन दौड़ी चली आती है । इस पर तेजाजी को आपत्ति होती है—

सबकी खनाई आई छै नै बाँनड़ म्हारी
लाखीणा सगा सूं टूटण न कर आई नै ।

जब वहिन द्वारा उन्हें यह विश्वास दिलाया जाता है कि उसे अपनी ससुराल की स्वीकृति प्राप्त है तब तेजाजी उसे अपने साथ लेकर चल देते हैं । और वहाँ पहुँचते हैं जहाँ वे लुटेरों को वचन दे आये थे । अनेक लुटेरों से भाई को घिरा देखकर वहिन तो रोने लगती है; क्योंकि वह समझती है कि उसका भाई तो अकेला है और लुटेरे अनेक हैं । तब तेजाजी एक युक्ति से काम लेते हैं; वे अपना भाला सूखे पेड़ के तने में अपनी शक्ति-भर प्रहार से गाड़ देते हैं और लुटेरों से कहते हैं कि पहले इसे पेड़ से निकाल लाओ, फिर मुझसे लड़ने की चेष्टा करो । समस्त लुटेरे मिलकर उसे खींचने का निष्फल प्रयास करते हैं । तब उनकी वहिन जाकर उसे सहज ही खींच लाती है—

भालो तो पाड़ र लाई छै रै घोड़ीजी हाळा
भालो पाड़्यो छै बावाँ हाथ सूं ।

तब लुटेरे भाग खड़े होते हैं ।

तेजाजी अपनी वहिन को लेकर घर पहुँचते हैं और अपनी माता और भाभी से ससुराल जाने की स्वीकृति चाहते हैं । पहले तो दोनों उन्हें फुसलाती हैं कि वे ससुराल न जायें पर उनके न मानने पर भाभी उन्हें इन शब्दों के साथ विदा करती है—

भलांई भलांई जावै नै रै देवरिया म्हारा ।
धोळा की धरत्याँ पै होवैगी थारी देवळी ।

पर वे इसकी चिन्ता नहीं करते हैं कि भावी क्या है । मार्ग में उन्हें अनेक अपशकुन होते हैं । पहले काले कलशों से युक्त पनिहारिन मिलती है, फिर काले बैलों से हल जोतता किसान मिलता है; आगे बायीं ओर कोचर पक्षी बोलता मिलता है और अन्त में बाईं ओर ही काले हिरण दिखाई देते हैं । पर तेजाजी अपनी शक्ति के बल पर उन्हें अनुकूल बनाते चलते हैं—

वावां सूं, जीवां आजा ये कोचर राणी,
न तो दूगूं भलका की वखेरूं थारा पांखड़ा ।

वे कुछ आगे बढ़ते हैं और देखते है कि एक वन जल रहा है और ग्वाले अपनी गायों की घास के जलने से व्यथित और निष्क्रिय हैं। वे उस भयंकर ज्वाला को बुझाने में जुट जाते हैं। उन्हें एक जलता हुआ सर्प दिखाई देता है जिसे वे उस ज्वाल-माल से निकालकर बचा लेते हैं, पर चेतना-प्राप्ति पर सर्प तेजाजी पर कुपित होता है और कहता है, "तुमने अच्छा नहीं किया। मेरी पत्नी तो जल गई और मुझे बचा लिया। अतः मैं तुम्हें काटूँगा।" वे सर्प के इस निर्णय से चिन्तित नहीं होते हैं, अपितु उसे वचन देते हैं कि पहले वे अपनी ससुराल हो आते हैं और लौटते समय सर्प को अपनी मनोकामना पूरी करने का अवसर देंगे।

ससुराल-मार्ग में वे बद्रीनारायण के दर्शन करते हैं। जब कुछ आगे बढ़ते हैं तब देखते हैं कि बनास नदी बाढ़-ग्रस्त है। अपनी घोड़ी को वे नदी में डाल देते हैं और पार हो जाते है। ससुराल में पहुँचकर वे एक उद्यान में विश्राम करते हैं, जो उनके ससुर का है। तेजाजी की पत्नी मोडल को जब मालिन द्वारा यह ज्ञात होता है कि उसके पति आये हुए हैं तब वह अपनी सहेलियों को लेकर झूलने के बहाने उद्यान में पहुँचती है और तेजाजी से उपालम्भ के स्वर में कहती है—

घणां दना मैं आयो छै रै खांवंद म्हारा,
थारा लेखा सूं तो मोडळ मरगी फीर मैं।

जब तेजाजी अपने ससुर-गृह पहुँचते हैं तब वहाँ उनका उचित स्वागत-सत्कार नहीं होता है। उनके भोजन में 'तुलस्या बाकळा' खारी और तेल परोसे जाते हैं। यह व्यवहार उन्हें असह्य होता है और वे अपने घर लौट पड़ते हैं। उनकी पत्नी मोडळ और उसकी सहेली माना गूजरी उन्हें मनाती है—

गूजरां की माना लूमी छै हे घोड़ी जी हाळा,
ऊँगी मोडळ लूमी छै पंगां कै पागड़ै।

अतः तेजाजी अपने लौटने के निश्चय को बदल कर माना का आतिथ्य स्वीकार कर लेते है।

तेजाजी रात्रि में सुख-निद्रा में सोये हुए होते हैं। उस समय माना गूजरी क्रन्दन कर उठती है कि उसकी सारी गायें चोर चुरा ले गये। तेजाजी उसे परामर्श देते हैं कि जाकर अपने जागीरदार से प्रार्थना कर। वह गाँव-भर में अपनी करुण पुकार करती है, पर उसकी कोई सहायता नहीं करता है, तब उसे कहना पड़ता है—

गांव मैं तो रांडां बसै छै रै जीजाजी म्हारा,
मरदा नै फैरी छै लांबी कांचळी।

इस पर अकेले तेजाजी गायों को लौटा लाने के लिए चल पड़ते है। वे लुटेरों

को समझाते हैं कि आप हमारे मामा हैं; अतः आपको हमारी गायें लौटा देनी चाहिए। तेजाजी की यह बात चोरों को प्रभावित कर जाती है। तेजाजी सारी गायें लेकर लौट आते हैं। पर जब माना गूजरी देखती है कि गायों में एक काना बछड़ा नहीं है तब वह पूर्ववत् बिलखने लगती है। तेजाजी पुनः जाते हैं, पर इस बार चोरों और उनमें भीषण युद्ध होता है। ये अकेले होते हैं और वे अनेक। इसलिए ये बुरी तरह घायल होते हैं—

सुवामण तो लोयो घोड़ी का डील पँ—
भेलो होग्यो छै रै घोड़ी जी हाळा,
सुवा मण लोयो होयो आपणा डील पै।
रूम रूम मैं सेल टूट गया छै घोड़ी जी हाळा,
मीणां मार पोट भगाया छै रै।

पर विजय-श्री उनका वरण करती है। वे बछड़ा लेकर घर लौटते हैं। अब उन्हें अपनी आसन्न मृत्यु की घड़ियाँ पास आती दिखाई देती हैं। इसलिए अपने वचन के रक्षा-हेतु सर्प के पास चल पड़ते हैं।

मोडळ भी उनके साथ हो लेती है और वे नियत स्थान पर पहुँच जाते हैं। उनकी घोड़ी उनके संकेत पर उनकी बहिन तथा माँ को बुला लाती है। सर्प उन्हें काटना चाहता है, पर उसके सामने समस्या है कि उन्हें किस अंग पर काटे; क्योंकि उनका प्रत्येक अंग क्षत-विक्षत हो रहा है। इसलिए तेजाजी अपनी जीभ निकाल देते हैं और सर्प उस पर काटता है—

काळो तो जीभ के लूम्यो छै रै,
जाभाँ कै डस्यो छै जाटाँ को डावड़ो।

तथा घोड़ी को वह कान पर काटता है।

अंत में मोडळ तेजाजी के शव साथ सती हो जाती है—

ऊंकी मोडळ नै वोर तेजाजी नै,
दोन्याँ नै बराबर सत द्यो सरी भगवान्।

वस्तुतत्त्व

'तेजाजी' के कथा-विकास में जीवन की अनुरूपता है। इस दुखान्त कथा का विकास सरल व स्वाभाविक ढंग से हुआ है। उसमें उन कला-युक्तियों का अभाव-सा है जो साहित्यिक कथाओं में कौतूहल उत्पन्न करने के लिए अपनाई जाती है। इसलिए घटनाओं का विकास ऐतिहासिक क्रम से है। केवल तेजाजी के विवाह के तथ्य का उद्घाटन कथा के मध्य में होता है, जो इतिहास-क्रम से पूर्व में होता है—नायक के बाल्यकाल का प्रसंग है। कथा का आरम्भ नायक के यौवन-काल से होता है। नायक नित्य-प्रति की तरह एक दिन तालाब की

पाल पर पूजा में बैठा होता है; उस समय माना गूजरी उसे बताती है कि उसका विवाह हो चुका है। तब नायक पत्नी को लाने का निश्चय कर लेता है। बहिन को लेने जाने और मार्ग में लुटेरों से उसकी शक्ति-परीक्षा प्रासंगिक घटना के रूप में आती है। शेष घटनावली आधिकारिक कथा के अंतर्गत है। उसकी घटना-क्रम में जो आकर्षण है वह मार्ग में उत्पन्न सहज बाधाओं के फलस्वरूप है। जब तेजाजी अपनी ससुराल जाने के आग्रह को नहीं छोड़ते तो उनकी भाभी के ये वचन होते हैं—चाहे तुम चले जाओ, पर जीवित लौटकर नहीं आओगे। ये वचन ही कथा में आद्यन्त कौतूहल बनाये रखते हैं और नाटकीय व्यंग्य (Dramatic Irony) बन गये हैं। पाठक यह जानने को उत्सुक रहता है कि अतुलित बल धाम इस वीर की मृत्यु कैसे होगी। मार्ग के अपशकुनों को अपनी शक्ति के बल पर अनुकूल बनाते जाते देखकर तो भाभी का कथन और भी अविश्वसनीय बन जाता है। पर शकुन की वस्तुएँ भी तो पुनः-पुनः यही पुष्ट करती हैं कि तुम्हारी भाभी के वचन मिथ्या नहीं जायेंगे। अतः पाठक विस्मय और कौतूहल से युक्त होकर कथा को पढ़ता रहता है। उसी घटना-विकास में तेजाजी द्वारा सर्प को जलने से बचा लेना और उसको वचन देना जैसी घटनाएँ घटित हो जाती हैं और पाठक अन्त के सम्बन्ध में निश्चय की स्थिति पर पहुँच जाता है, पर घटना-विकास के साथ उसमें तनिक उलझाव उत्पन्न हुआ है। ससुराल में नायक का निरादर और माना गूजरी के अतिथि बन जाने के बाद गायों की चोरी और युद्ध में नायक का घायल होना—जैसे प्रसंग कथान्त की ओर संकेत करते हैं। पर कथा आगे बढ़ी है। तेजाजी मृत्यु को समीप देखकर वचन-निर्वाह हेतु चल पड़ते हैं। भाभी, माँ, बहिन व पत्नी की उपस्थिति में सर्प-दंश के करुण दृश्य के साथ गाथा की समाप्ति होती है।

इस लोक गाथा में घटनावली निर्दोष, कार्य-कारण से आबद्ध और स्वाभाविक है। उसमें कहीं त्रुटि नहीं है। अलौकिक तत्त्वों की स्वीकृति के उपरान्त भी उसका धरातल पार्थिव और तर्कसंगत है। मध्य के शौर्य के प्रसंग उसमें नीरसता नहीं आने देते और अंतिम प्रसंग उसे इतना मर्मस्पर्शी बना देता है कि पाठक के मन पर वेदना की गहरी छाप पड़ जाती है।

गाथा में लोक-तत्त्व

अनेक गाथाएँ ऐतिहासिक आधार पर स्थित होने पर भी सर्वथा ऐतिहासिक नहीं होती हैं। उनमें लोक-मानस ऐसे-ऐसे लोक-विश्वासों, मान्यताओं, रूढ़ियों और शैलियों को जोड़ देता है, जो किसी साहित्यिक कृति में प्रायः स्थान नहीं पाती हैं; जिनका बौद्धिक या तर्कपूर्ण समाधान नहीं खोजा जा सकता है तथा जिन्हें आधुनिक सभ्य मनुष्य निरर्थक होने के नाते अग्राह्य समझता है। यद्यपि

साहित्यिक कृतियों में भी ऐसे तत्त्व रहते हैं, पर आधुनिक साहित्य उनसे दूर हटता जा रहा है। 'तेजाजी' लोक-गाथा में ऐसे अनेक उल्लेख मिल जायेंगे जो लोक-मानस की उपज हैं और जिन्हें आज भी लोक-मानस स्वीकार किये हुए है।

लोकमानस चेतन 'निज' और जड़ 'पर' के स्वरूप को भिन्न-भिन्न नहीं देख सकता। उसके लिए समस्त सृष्टि उसी के समान सत्ता रखती है। वह व्यक्ति-विशेष और वस्तु-विशेषी भेद करने की सामर्थ्य नहीं रखता।[1] वह तो भोले बालक के समान अभेद-द्योतक बुद्धि से कार्य करता है। इसलिए 'तेजाजी' में पीपल वृक्ष सचेतन हो उठा है—

पीपल मूंडा सूं बोली छै रै घोड़ी जी हाळा,
सै धोपरो काट जा ठंडी म्हारी छांवळ्यां।

यह सचेतनता मानवीकरण अलंकार से भिन्न समझी जानी चाहिए। मानवीकरण अलंकार कथन-शैली का एक अंग है और यह दृष्टिकोण भोले लोक-मानस की उपज है, जो जड़ और चेतन में भेद नहीं मानता है। इसका सम्बन्ध 'आत्मा सो परमात्मा' जैसे लोकोक्ति के समान किसी आध्यात्मिक दर्शन से जोड़ना भी असंगत ही होगा, क्योंकि दर्शन तो प्रौढ़ और परिपक्व मस्तिष्क की उपज होता है। इस लोकगाथा में वासुकि सर्प, घोड़ी, कोचर पक्षी—सभी कोई तो मनुष्य के समान बातचीत करते हैं।

तेजाजी में शकुनों पर अत्यधिक बल दिया गया है। तेजाजी भले ही ऐसे शकुनों को स्वीकार करें या न करें, पर लोकमानस अवश्य स्वीकार करता है। इसीलिए उनकी भावी मृत्यु से इनका सम्बन्ध स्थापित किया गया है; मानो वे भावी के सूचक हों (Coming events cast their shadows before)। लोकमानस के कारण-कार्य सम्बन्ध की यह स्थापना भी अतर्क्य है; क्योंकि अपशकुन-कारण से मृत्यु-कार्य का सम्बन्ध स्थापित हो पाना कठिन है। संभवतः मूल भय-वृत्ति ने इस रूप में अपना विकास देखा है। इस गाथा में तेजाजी के ससुराल-मार्ग में आनेवाली काले घड़े सिर पर धरे पनिहारिन, काले बैलों से हल जोतता किसान, बायीं ओर बोलनेवाला कोचर पक्षी या उस ओर का हिरण आदि ऐसे अपशकुनों के रूप में चित्रित हुए हैं। वीर तेजाजी उनकी परवाह नहीं करते हैं और उन्हें अपने सामर्थ्य से अनुकूल बनाते चलते हैं—

उलट जीवणीं आजा ये कोचर राणी
थारै धमोड़ूं छूटा तेल की।

इस पर भी लोक मानस की यह स्वीकृति है कि व्यक्ति-सामर्थ्य अदृष्ट सामर्थ्य के समक्ष व्यर्थ है। शकुनों के अनुकूल बनाने पर भी उनके फल को टाला नहीं

---

१. डॉ० सत्येन्द्र, मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक-तात्त्विक अध्ययन, पृ० २५

जा सकता। तेजाजी की मृत्यु इसका प्रमाण है।

स्थूल भौतिक कार्यों की सिद्धि के लिए सूक्ष्म कारणों की स्वीकृति लोक-मानस की महत्त्वपूर्ण स्वीकृति है। इससे इस बात की सिद्धि होती है कि उसके लिए जगत् में जड़-चेतन का भेद नहीं है। स्थूल कारण से स्थूल कार्य की संपन्नता या सूक्ष्म कारण से सूक्ष्म कार्य की सम्पन्नता उसकी मान्यता को सीमित नहीं रख पाती। इस गाथा में भंडार पर लगे ताले केवल गूगल और धूप के जलाने से झड़ पड़ते हैं—

खेई छै गूगल धूपाँ घोड़ीजी हाळा
जुड़्या ताळा हीट ग्या।

इस गाथा में जादू-टोनों को भी स्वीकृति मिली है। मनुष्य की भय-वृत्ति ने इनके उदय में योग दिया है। लोक-जीवन में ऐसे अनेक भय व्याप्त हैं, जो काल्पनिक होते हैं। भूत-प्रेत, डाकिन-चुड़ैल आदि भय के काल्पनिक आधार हैं। तेजाजी ऐसे भय से मुक्त नहीं हैं अत: वे अपनी घोड़ी से कहते हैं—

धीरी मंदरी चालै नै घोड़ी म्हारी,
डाकण तो खा जावैगी जूना सअर मैं।

डाकिन, शाकिन आदि की तान्त्रिक कल्पना लोक-मानस में पहुँचकर इस रूप में परिणत हो गई है। यहाँ तक कि शारीरिक कष्टों की कारण-स्वरूपा ऐसी अनिष्टकारिणी शक्तियों की कल्पना की जाने लगी। तेजाजी का शरीर क्षत-विक्षत हो गया है और वे मरणासन्न हैं। उन्हें यह भय था कि सर्प को दिए वचन के निर्वाह के पूर्व ही उनकी मृत्यु न हो जाए इसलिए वह 'स्त्री की छोत' से वचना चाहते हैं—

दूरां सूं ई बतळावै नै रै गूजर की माना,
छोत पड़ जावैगी भाला म्हारा जीव पै।

यह छोत (infection) स्थूल से सूक्ष्म हो गया है, क्योंकि लोकमानस में स्थूल और सूक्ष्म में कोई भेद नहीं होता है। इसलिए इसके सूक्ष्म इलाज भी किए गए हैं—

पाछो ई बावड़ चालै नै रै ज्वांई म्हारा,
जावतो कराऊंगूं थारा डील को।

शारीरिक व्याधि पर जावतो (जादू-टोना) कराने की व्यवस्था भोले मानस की स्वीकृति है। ऐसे किसी भी संकट के निवारण के लिए तायत (तावीज) बाँधे रहना भी एक उपाय है—

गळा में तायत पड़्यो छै घणी म्हारा,
पगां पै खेलै छै सोसठ जोगण्यां।

म्हांको तो राम रुखाळो छै धणी म्हारा,
थांको राखजे गाढो जावतो ।

शाप को साहित्यिक कृतियों में स्थान मिला है। पर धीरे-धीरे इस पर से नागरिक और शिक्षित मनुष्य का विश्वास समाप्त हो गया है; वह केवल लोक-जीवन की संपत्ति रह गया है। शाप से व्यक्ति का अनिष्ट हो सकता है और आशीर्वाद से अभीष्ट सिद्ध हो सकता है, लोकमानस इसे स्वीकार किये हुए है। 'तेजाजी' गाथा में पुन-पुनः इस पर बल दिया गया है कि 'थारी भाभी का बोल्या एळा न जावै'। यह 'बोल्या' शब्द शाप के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस गाथा में वरदान का उल्लेख भी मिलता है।

लोक-जीवन में सतीत्व भावना इस विश्वास पर जीवित है कि जब स्त्री सती होने लगती है उससे पूर्व वह त्रिकालदर्शिनी देवी-स्वरूपा हो जाती है और उसे वरदान या शाप देने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इसी विश्वास पर मोडळ सती होने के पूर्व सर्प को शाप देती है—

थनै म्हूं सरापूंगी रै काळा बाबा,
झेल म्हारा सराप।

भविष्यवाणी में अगाध विश्वास लोकमानस की एक विशेषता रही है। भविष्यवाणियाँ प्रायः किसी देव-पुरुष या देवता के द्वारा की जाती हैं। ऐसी भविष्यवाणियाँ भागवत, मानस आदि धर्मग्रन्थों में लोक-तत्त्व की स्वीकृति के रूप में मिलती हैं। इस लोकगाथा में 'काळा बाबा' इस प्रकार कहता है—

कळू को परगास आग्यो छैरी जाटां को छोरो,
कळू मैं रूंगूं ईं की लार—
म्हारो म्हारा काट्यां की लैगो लहर समेट।

स्वप्न में किसी समस्या का समाधान या भावी की सूचना लोकमानस की एक अन्य मिलती-जुलती स्वीकृति है। स्वप्न के सम्बन्ध में आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की कुछ भी धारणा हो, पर लोक-साहित्य में उसका अपना महत्व है। कहीं उसके द्वारा प्रेयसी के दर्शन होते हैं, कहीं पर वह पहेली बनकर आता है; कहीं उसमें किसी समस्या का समाधान रहता है, कहीं उसके द्वारा भावी की सूचना मिलती है···, न जाने कितने विश्वास उसके साथ जुड़े हुए हैं। तेजाजी की भाभी को उनके ससुराल-प्रस्थान से पूर्व ही जो स्वप्न आता है उसमें उनकी मृत्यु की पूर्व-सूचना उसे मिल जाती है—

सूती छी सुख भर नींद देवरिया म्हारा
सूती का सपना मैं होगी थारी कांकड़-देवळी।

अवतारवाद की स्वीकृति के उपरान्त लोकमानस तनिक आगे बढ़ गया। उसके अनुसार प्रत्येक देवी-देवता अवतार लेकर पृथ्वी पर आ सकता है। सम्य

और नागरिक जीवन में अवतारों की संख्या १० या २४ पर आकर रुक गई है, पर लोक में पहुँचकर उसकी निश्चित सीमा नहीं रही है। इसीलिए गाथा की भाभी और घोड़ी दोनों भवानी के अवतार हैं—

(१) थारी भाभी सगत भवानी छै घोड़ी जी हाळा।

(२) थू तो सगत छै रे घोड़ी म्हारी।

लोकमानस देशकाल के सापेक्ष ज्ञान से अपरिचित रहा है। वह अपनी मान्यता के पोषण के लिए तथ्य-चयन के तर्क का सहारा नहीं लेता है। इसीलिए हिमालय स्थित बद्रीनारायण का मंदिर बनास नदी के आसपास ले-आना उसके लिए अस्वाभाविक नहीं है। दिशा-बोध उसके लिए बाधक नहीं है। गाथा में तो इतना ही पर्याप्त है कि नायक बद्रीनारायण के दर्शन कर ले।

लोक-साहित्य पोथियों के स्थान पर जिह्वा पर पला है। इसलिए उसका विकास एक विशिष्ट शैली में हुआ है। आवृत्तियाँ उसकी शैली का एक आवश्यक अंग है और उनमें भी एक निश्चित शब्दावली मिलती है जो सभी समान प्रसंगों में प्रयुक्त होती है। उसके कुछ रूप ये हैं—

(१) ऊपर से नीचे उतरने के लिए—

खड़-खड़ पेड़्यां उतर्यो

(२) प्रस्थान व गंतव्य पर पहुँचने के लिए—

एक मंजल दूंजी लांगी
तीजी मंजल्यां मैं राई आंगणे।

(३) उद्बोधन के लिए—

सूती छै क जागे छै

और उत्तर के लिए—

न सूती, न जागूं देवरिया म्हारा
डावरिया नैणां मैं नंदरा भर रही।

(४) वचन-बद्धता के लिए—

वाचा ब्रम्म वाचा मीणाओ भाया
वाचा चूकां तो ऊवाई सूकस्यां।

---

1. There is a markeet preference for number two and three—two brothers one acting as a foil to the other, three questions and talks, the slaying of teree giants of which third is the most dangerous, three daughters to the king out of which the third and the youngest is the prettiest.
Stunberg—Cassell's Encyclopedia of Literature page 225

इस गाथा में 'तीन' शब्द के लिए विशेष आकर्षण है; क्योंकि पहली व दूसरी मंजिल के बाद तीसरी मंजिल अंतिम होती है; एक-दो हिलोर के बाद तीसरी हिलोर स्नान की समाप्ति की सूचना देती है—

एक हिलोळो दूजो लीनों
तीजा हलोळा मैं वारै खड ग्यो।

गाथा की ऐतिहासिकता

वीर तेजाजी देव-श्रेणी में कब पहुँच गये, यह कहना सरल नहीं है, पर स्थान-स्थान पर बनी उनकी देवलियाँ हाड़ौती लोक-जीवन में उनके गहरे प्रवेश व देव-भावना की सूचना देती हैं। वीर तेजाजी से सम्बन्धित जो साहित्य उपलब्ध होता है उसमें कुछ तो छोटी-छोटी पुस्तकें हैं जो उनके जीवन पर किसी प्रकार का प्रकाश नहीं डालतीं, पर कुछ पुस्तकें अवश्य विचारणीय हैं। किशनगढ़ से प्रकाशित श्री रामगोपाल शिवरामजी राव की लिखित 'तेज लीला' है। इस पुस्तक का लेखक मुखपृष्ठ के पृष्ठभाग पर लिखता है, "यह पुस्तक प्राचीन लिखावट महात्मा गोपीदास जी श्री कृष्णदास जी का वार्तालाप गद्य रूप सम्वत् १७३४ की लिखावट थी उसे मैंने पद्यरूप देकर आपके कर कमलों में प्रस्तुत की है। मूल पुस्तक सम्वत् १७३४ की है और उसका आधार संवत् १४५५ में लिखी कथा है।[1] इन उल्लेखों से पुस्तक की प्रामाणिकता विचारणीय बन जाती है। इस 'लीला' से कुछ तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है—तेजाजी खरनाल के निवासी थे और धोलिया जाट थे। उनके पिता का नाम ताहड़ और माता का नाम यशोदा था। तेजाजी का विवाह अति बाल्यकाल में रायमल की पुत्री प्रेमलता से हुआ था। जब तेजाजी पनेर में पहुँचे, तब वहाँ उनकी सास द्वारा उनका अपमान हुआ। इस पर वे लौटने लगे तो लाधू गूजरी ने उन्हें प्रार्थनापूर्वक अपना अतिथि बना लिया। रायमल की पत्नी की प्रेरणा से लाधू गूजरी की गायें चोरी चली गईं और उन्हें लौटा ले आने के प्रयत्न में तेजाजी घायल हुए। अंत में सर्प-दंश से उनकी मृत्यु हुई।

उपर्युक्त अंश 'तेजलीला' की कथा का उत्तरार्ध है। पूर्वार्द्ध में तेजाजी और प्रेमलता क्रमशः महाराज कश्यप नाग और नागदेवी के अवतार बताये गये हैं और ये अवतार तत्कालीन गो-रक्षा आवश्यकता के हेतु हुए हैं। कश्यप और उनकी पत्नी को अवतार लेने की प्रेरणा विष्णु भगवान् और इन्द्र से मिली है। इस प्रकार पूर्वार्द्ध अलौकिक घटनाओं से युक्त और अविश्वसनीय है। उत्तरार्द्ध का आधार जनश्रुति प्रतीत होती है; जो हाड़ौती गाथा में भी मिलती है।

---

१. रामगोपाल शिवरामजी—तेजलीला, पृष्ठ ५

'तेजलीला' के लेखक के अनुसार तेजाजी की जन्मतिथि संवत् १३३० भाद्रपद दशमी रविवार है और इनका प्रथम विवाह संवत् १३३३ ज्येष्ठ एकादशी को हुआ था। इनके पाँच विवाह हुए, पर सब पत्नियाँ मृत्यु को प्राप्त होती चली गईं। 'लीला' के अनुसार तेजाजी का स्वर्गवास संवत १३५० चैत्र शुक्ला पंचमी को हुआ।

ठाकुर देशराज ने 'मारवाड़ का जाट इतिहास' लिखा है, जिसमें तेजाजी के जीवन चरित पर तीन स्थलों पर विचार किया गया है। एक स्थल पर धौल्या गोत के भाट छोटूजी के आधार पर तेजाजी का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया गया है—

तेजाजी का जन्म संवत् ११३० माघ शुक्ला चतुर्दशी बृहस्पतिवार को हुआ। उनके पिता का नाम ताहड़ था और पनेर के राव रायमल की पुत्री पेमल इनकी पत्नी थी। पेमल गौरी इनकी अन्तिम पत्नी थी। इससे पूर्व इनके पाँच विवाह हो चुके थे। इनकी माँ का नाम राजकुंवर था। छोटूजी भी सुरसुरा गाँव ही इनकी शहीदी का स्थान वताते हैं। संवत् ११६० वि० की माघकृष्णा चतुर्थी को उनका वलिदान हुआ था। यह छोटूजी की वही का कथन है, किन्तु सर्वसाधारण के अनुसार शुक्ल दशमी उनके वलिदान की तिथि है।[1] अन्य दो स्थलों के उल्लेख तेजाजी के जीवन पर विशेष प्रकाश नहीं डालते हैं।

उपर्युक्त दोनों आधार विश्वसनीय प्रतीत नहीं होते हैं। दोनों के आधार जनश्रुतियाँ प्रतीत होती हैं। छोटूजी की वही भी प्रामाणिक आधार प्रतीत नहीं होती है। तिथियों का योग देकर दोनों में प्रामाणिकता लाने के प्रयत्न मिलते हैं। इसीलिए दोनों में तिथि-अंतर काफी है। तेजाजी के छह विवाहों से सम्बन्धित व्यक्तियों व कन्याओं के नाम भी परस्पर मेल नहीं खाते है। पर दोनों की छानवीन करने पर कुछ विश्वसनीय तथ्य भी प्रकाश में आते हैं—तेजाजी धोल्या गोत्र के थे, उनके पिता का नाम ताहर या ताहड़ था। उनमे गो-प्रेम भरा हुआ था। लाखा या लाछू गूजरी की गायों की रक्षा करते हुए वे घायल हुए और सर्पदंश से उनकी मृत्यु हुई। उपर्युक्त तथ्यों को 'मारवाड़ का जाट इतिहास' का लेखक भी प्रामाणिक मानता है।[2] वह यह स्वीकार करता है कि तेजाजी की जन्म-तिथि 'ग्यारहवीं सदी के आरंभ में भादों सुदी १०वीं' है।

तेजाजी की मृत्यु का कारण—सर्पदंश (?)

हाड़ौती लोकगाथा और 'लीला' दोनों में तेजाजी की मृत्यु सर्पदंश से

---

१. ठाकुर देशराज—मारवाड़ का जाट इतिहास, पृ० १५१ से १५३

२. वही पृ० २१५ से २१६

स्वीकार की गई है और यह दंश भी उनकी जीभ पर बताया गया है। क्या यह संभव है ?

पुराणों और लोकगाथाओं में ऐतिहासिक तथ्यों को जिस रूप में स्वीकार किया जाता है उससे वे वास्तविकता से बहुत दूर चले जाते हैं, पर सामान्य पाठक उन्हें यथावत् स्वीकार करते रहते हैं। जनमेजय ने जो नागयज्ञ किया था वह सर्पों का यज्ञ स्वीकार किया गया है। वस्तुत: यह यज्ञ तो जनमेजय द्वारा बर्बर नाग जाति का संहार था जो जहाजपुर (यज्ञपुर) में हुआ था। 'नाग' शब्द से यह भ्रान्ति उसी प्रकार हो गई जिस प्रकार 'वानर' शब्द की श्लिष्टता ने रामवाहिनी के मनुष्यों को बंदर बना दिया।

वर्तमान जहाजपुर के आसपास की भूमि पर नाग-जाति प्राचीनकाल से रहती आई है। नागौर[1] इस जाति का केन्द्र है, जो मारवाड़ में है। ठाकुर देशराज ने मारवाड़ के नागवंशी जाटों की गोत्र-तालिका दी है। उसके अनुसार धौल्या, श्वेत्रा (श्वेत) नागों में से है। मारवाड़ में श्वेत या सफेद को धोल्या कहते हैं। महावीर तेजा इन्हीं (श्वेत) धौल्या नागों में पैदा हुए थे।[2] असित नागों में काला जाट है, जो परबतसर परगने में आबाद है। असित का अर्थ है जो सफेद नहीं; अर्थात् काला होता है।[3] इस प्रकार जाटों की नागवंशीय शाखा के धौल्या और काल्या के गोत्र प्रचलित हैं। यह 'काला नाग' गोत्र ही शब्द—श्लेष से काला सर्प समझा जाने लगा।

इसी काला नाग गोत्र का एक व्यक्ति बालू था; जिससे तेजाजी का झगड़ा हुआ था।[4] यह बालू नाग सुरसुरा के जंगल में तेजाजी को मिला।[5] छोटूजी जाट के अनुसार गायों की रक्षा करते हुए सुरसुरा गाँव में तेजाजी की शहीदी हुई।[6] इन उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तेजाजी बालू नाग द्वारा मारे गये, पर इसे इतिहासकार स्पष्ट रूप में स्वीकार नहीं करते हैं।

अब प्रश्न यह है कि लोकगाथा में नायक के मृत्यु-कथांश को ऐसा स्वरूप

---

१. संस्कृत लेखों में इसको अहिछत्रपुर या नागपुर लिखा है। 'नागपुर का अर्थ नागों (नागवंशियों) का नगर है और अहिछत्रपुर का अर्थ है अहि (नाग) है+छत्र (रक्षा करने वाला) जिस नगर का। अतएव यह नगर प्राचीन काल में नागवंशियों का बसाया हुआ था या उनकी राजधानी होनी चाहिए। ओझा गौरीशंकर हीराचंद—राजपूताने का इतिहास जोधपुर राज्य का इतिहास, पृ० ४०
२. ठाकुर देसराज—मारवाड़ का जाट इतिहास, पृ० ६९-७०
३, ठाकुर देसराज—मारवाड़ का जाट इतिहास, पृ० ४८
४. वही, पृ० १४२
५. वही, पृ० १४५
६. वही, पृ० १५३

कैसे प्राप्त हुआ ? मैक्समूलर के अनुसार धर्मगाथा भाषा का रोग (मेलैडी ऑफ लैंग्वेज) है। भाषा जब अपनी श्लेष-शक्ति अथवा असमर्थता के कारण एक के स्थान पर, साम्य या भ्रांति के कारण, दूसरे शब्द को ग्रहण कर लेती है और अर्थविषयक परिवर्तन भी पैदा कर देती है; तब धर्मगाथा जन्म लेती है।[१] ऐसी धर्मगाथा ही बाद में लोकगाथा में रूपांतरित हो जाती है। तेजाजी लोकगाथा की सर्पदंश सम्बन्धित नामावली में इस सिद्धान्त को देखा जा सकता है। उसमें नाग के लिए 'काला बाबा' और 'बासक राजा' और उसके निवास के लिए 'भूरी बामल्यां' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। 'काला बाबा' शब्द में 'काला' गोत्र-वाचक है।

गोत्र-कथन में प्राय: पूर्ण शब्द के स्थान पर सुभीते की दृष्टि से उसके अंश से ही काम लिया जाता है, जैसे गुवाल व बाणारसा क्रमश: गुवाल आचार्य व बाणारसा तिवाड़ी के लिए प्रयुक्त होते हैं। 'बाबा' शब्द या तो सम्मान-सूचकता में प्रयुक्त हुआ है (लोक-मानस में यह वृद्ध का भी द्योतक है) या 'बालू' शब्द ही स्वरूप बदलकर बाबा रूप में भ्रमवश प्रयुक्त हो रहा है। 'बासक राजा' शब्द में भी 'बासक' शब्द 'बासुकि' से बना है। मारवाड़ के नाग बसुकि वंश के हैं।[२] राजा शब्द नेतृत्व या स्वामित्व के अर्थ में प्रयुक्त होता है! हो सकता है कि तेजाजी का प्रतिद्वन्द्वी अपने गाँव का स्वामी होने से 'बासुकि राजा' कहलाता हो। भूरी बामल्यां में 'बामल्यां' शब्द 'वाल्मीकि' से बना है जो 'नाग' से सर्प का अर्थ ग्रहण किये जाने पर बासुकि राजा के निवास को 'बांबी' रूप में ग्रहण करने की स्वाभाविक भूल है। 'भूरी' विशेषण मारवाड़ की रेतीली भूमि की ओर संकेत करता है।

अब सर्पदंश की बात विचारणीय है। लोकमानस की इस कल्पना में लोकभाषा ने योग दिया है। यदि अपने प्रिय व्यक्ति का किसी के द्वारा वध कर दिया जाये तो उनके लिए सम्बन्धियों की सीधी-सादी, पर मार्मिक अभिव्यक्ति होती है—'खा गया'।[3] तेजाजी अपनी गो-सेवा और गो-रक्षा के कारण अत्यन्त लोकप्रिय बन गये थे। अत: जब बालू नाग द्वारा उनका वध किया गया तब लोक-जिह्वा पर यह प्रचलित रहा होगा कि तेजाजी को बालू नाग खा गया।

प्रस्तुत लोकगाथा में पुन: पुन: स्थापना की गई है कि तेजाजी वचन-निर्वाह

---

१. डॉ० सत्येन्द्र, मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, पृ० ४१
२. ठाकुर देशराज—मारवाड़ का इतिहास, पृ० १५२
३. यह अभि-व्यक्ति-शैली मनुष्य की उस बर्बर अवस्था का स्मरण दिलाती है जब मनुष्य किसी के वध के लिए दाँतों और नखों का उपयोग करता था। इसमें नृशंसता बोधक बिम्ब एवं प्राचीनता है।

का वही आदर्श पालन करते थे जो 'मानस' के 'प्रान जाहिं पर वचन न जाई' में मिलता है। लोकमानस में अभेदवाद की प्रवृत्ति पाई जाती है; जिसके अनुसार तुल्य और तुलनीय, अंश और अंशी, चिह्न और प्रतीक और प्रदाता अथवा लक्ष्य में अभेद होता है। उसके लिए भावांश भी मूर्त-स्वरूप वाले होते हैं।[1] इस प्रकार वचन जिह्वा के रूप में स्वीकृत हुए। तेजाजी अपनी वचन-बद्धता के कारण मारे गये हैं। लोक-मानस के पास ऐसी शब्दावली तैयार थी जो उनके प्रतिद्वन्द्वी को सर्प की संज्ञा देने में सक्षम थी। इसलिए ऐसे लोक-मन ने चट्-से जीभ पर काट लेने की बात गढ़ ली और तेजाजी की लोकप्रियता के साथ वह कल्पना भी लोक में यथार्थ रूप में स्वीकार हो गई। तेजाजी को लोक-देवता मान लेने पर तो इस स्वीकृति को और भी बल मिल गया। यही कारण है कि तेजाजी की अति प्राचीन मूर्तियों में उन्हें जिह्वा पर सर्प द्वारा कटवाते नहीं दिखाया गया है।

चरित्र-चित्रण

'तेजाजी' में चरित्र पर प्रकाश प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रणालियों से पड़ा है, पर अधिकांश में कथोपकथन द्वारा ही चरित्र सामने आये हैं। इस गाथा के प्रमुख पात्र तेजाजी ही हैं, शेष-पात्र माना गूजरी, भोडल, भाभी, तुलछां, राधा व घोड़ी गौण हैं, तेजाजी का चरित्र-चित्रण अत्यधिक कलात्मक हुआ, इससे यह पात्र श्रोता के मस्तिष्क पर अमिट छाप छोड़ जाता है।

तेजाजी

गाथा के नायक तेजाजी जाट जाति के एक वीर पुरुष हैं, कठिनाइयों में स्वपथ निर्माण करने का अदम्य उत्साह उनमें भरा पड़ा है, इसीलिए वे अपशकुनों की चिन्ता नहीं करते, अपितु उन्हें शक्ति के बल पर अनुकूल बनाते चलते हैं :

सूण मनातो जावै छे रे घोड़ी जी हाळा
जार्‌यो छै वन मैं एकलो

यही वीरता भयंकर युद्ध में भी दिखाई देती है, माना गूजरी का बछड़ा लाने के लिए वे वीर अपने प्राणों की बाजी लगा देते हैं, वचनों का निर्वाह वे किसी भी समय करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं, अतः मृत्यु को सामने खड़ा देखकर अपनी चिकित्सा की चिंता उन्हें नहीं होती, अपितु चिंता होती है :

लख्या लेख गोडा आर्‌या छै री गूजर की माना
बाबा चुकैगां काळा की भूरी बामल्यां।

---

१. डॉ० सत्येन्द्र—मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन, पृ०२६-२८

वीरता के साथ दया और सहानुभूति उनके चरित्र में मणि-कांचन का संयोग है। इन्हीं मानवीय उदार गुणों से प्रेरित होकर वे जलते हुए वन को बुझाने लग जाते हैं और जलते हुए सर्प को बचा लेते हैं। गौ-रक्षा की भावना भी उनमें विद्यमान है :

सूधी धूंदाड़ा चालै नें री घोड़ी म्हारी
चारो वळ रयो छै गऊ-गरास को।

तेजाजी परम भगवद्भक्त रूप में भी सामने आते हैं। उन्हें नित्यप्रति भगवान की सेवा साधने की लगन बाल्यकाल से ही है। इसी का प्रभाव है कि उनके सामने झूठ छिप नहीं सकती :

झूट घणी मत बोलै है गूजर की माता,
जुड़या छै क्वांड़, बालू थारो खेल र्‌यो।

इसी धार्मिकता का प्रतिफलन उनकी चारित्रिक पवित्रता में होता है। अपनी बहिन के ससुराल मे पहुँचने पर पनघट पर 'भर्‌या मांट उचायां सूं ज्याग बता दूं', का प्रस्ताव जब एक पनिहारिन की ओर से होता है तब तेजाजी कह देते हैं :

ज्यूंई भरिया, ज्यूंई उच लै, फणियारी माता
पेला की तरिया न मेलूं फळस्यो बेवड़ो।

उन्हें सामाजिक-पारिवारिक मर्यादाएँ अत्यधिक प्रिय हैं। किसी व्यक्तिगत भावावेश में वे कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहते जो पारिवारिक शांति को भंग करे। अपनी बहिन से यह पूछकर कि तू 'लाखीणा सगा' से पूछकर आई है न, इसका परिचय देते हैं। दूसरों की भावनाओं का आदर करना और पारिवारिक रीति-रिवाजों का निर्वाह भी उन्हें प्रिय है, अतः बहिन के यहाँ एक बार भोजन करने पर "भूरी और धोलची" भैंसें दे देते हैं :

खांसा में तो भूरी दीनी छै
बैण के तांई दीनी छै धरमा धोलची।

वे माता और भाभी की आज्ञा का पालन करने वाले हैं। इसलिए उनके संकेत पर ससुराल जाने के पूर्व बहिन को लेने चले जाते हैं। यहीं वे व्यवहार-कुशल और आत्म-प्रतिष्ठा-प्रिय रूप में भी सामने आते हैं। अतः वे मांगे बैल अपनी गाड़ी में नहीं जोतते :

मांग्या ढोल्या न जोऊं भोजाई म्हारी।

और न ससुराल का अनादरपूर्ण आतिथ्य स्वीकार करते हैं।

घोड़ी के प्रति उनके हृदय में इतना ही प्रेम है जितना किसी पुरुष में अपनी प्रिय पुत्री के प्रति होता है। उसका तनिक भी दुख वे नहीं देख सकते। जब मालिन घोड़ी को पीट देती है तब वे भी उसे दंडित करते हैं—

डाळ तो कंदेर की तोड़ी छी रे घोड़ी जी हाळा।
माळी की छोरी के सांट्यां मांड़द्या।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि तेजाजी का चरित्र मानवीय गुणों का कोश है। इनके चरित्र में जाति और व्यक्ति दोनों का समन्वय है। इनका निष्कलुष चरित्र ही गाथा को लोगों का कंठहार बनाये हुए हैं।

भोडळ

मदना जाट की पुत्री भोडळ गाथा की नायिका है। बाल्यकालीन विवाह-जन्य विस्मृति उसमें भी विद्यमान है। उसमें भारतीय नारी के आदर्श मूर्तिमान हैं। तेजाजी जब बछड़े को लेने के लिए जाने लगते हैं तब वह भी जाने का आग्रह इस आधार पर करती है :

आडे ढाळ बण जाऊँगी रे खावंद म्हारा।
भळका झेलूंगी दांत की चूंप कै मांईनै।

और इसी रूप की चरम सीमा वहाँ देखने को मिलती है जब वह परमात्मा से सतीत्व मांग रही है :

भोडळ तो बामी पै बेठी छै रे घोड़ी जी हाळा
सत मांग री छै सरी भगवान सूं।

भोडळ का प्रेम आध्यात्मिक है। उसमें वासना की तनिक भी गंध नहीं है।

माना गूजरी

माना गूजरी के रूप में सामान्य नारी का चरित्र चित्रित हुआ है। मिथ्या भाषण, व्यंग्य, स्वार्थ-परायणता और बुद्धि-हीनता उसके चरित्र की विशेषताएँ हैं। इस चरित्र की उपस्थिति से भोडळ का चरित्र काफी उभर आया है। उसकी स्वार्थ-परायणता की चरमता तब देखने को मिलती है जब बछड़े को लाने के लिए तेजाजी को इन शब्दों में प्रोत्तेजित करती है—

न लायो गायां को रखेल
गायां तो रांडा होगी छै रे जीजाजी म्हारा,
रेग्यो गायां को मोड़।

फिर भी अपनी सहेली की दारुण व्यथा को समझने का स्त्री-सुलभ हृदय उसे प्राप्त है। अतः भोडळ की प्रार्थना पर वह तेजाजी को रख लेती है और आतिथ्य का निर्वाह करती है।

भाभी व माँ

भाभी का चरित्र अत्यल्प सामने आता है। तेजाजी के परिवार में उसका

महत्त्वपूर्ण स्थान है । उसकी स्वीकृति से तेजाजी राधा को लेने जाते हैं । उसमें विवेक विद्यमान है । अत: दु:स्वप्न देखने पर तेजाजी को मना कर देती है । जब तेजाजी नहीं मानते हैं तो वह उन्हें कोसती भी है । भाभी के सम्बन्ध में सभी सम्बन्धित पात्रों का यह विश्वास है—

भाभी सगत भवानीं छै घोड़ी जी हाळा
भाभी का बोल्या वचन एळा न जावै ।

तुलछां तेजाजी की माँ है । उसमें मातृत्व मूर्तिमान है । इसलिए पुत्र और पुत्री दोनों का मंगल चाहती है ।

घोड़ी

यद्यपि घोड़ी पशु-पात्र है फिर भी उसमें मानवोचित गुण विद्यमान है; वह बोलती, सोचती तथा समझती है । उसमें अपने स्वामी के प्रति अत्यधिक प्रेम विद्यमान है । अत: जब तेजाजी विषधर से वचन-बद्ध हो जाते हैं तब वह कहती है :

ढीली दं रं लगाम घोड़ी जी हाळा ।
ठोकर सूं फोडूं काळा को काळज्यो ।।

वह सामान्य घोड़ी नहीं है, अपितु अलौकिक शक्ति से युक्त है । इसीलिए अग्नि को बुझाते समय तेजाजी जिस जलते शुष्क काष्ठ से उसे बांधकर जाते हैं; वह हरा हो जाता है :

वळता के वांधी छी हरया होग्या रूंखड़ा ।

इसीलिए वह तेजाजी के बिना कहे ही जान लेती है :

वाचा द्यायो छँ काळा की भूरी बामल्यां ।
थारो सारो कोई न छै रै म्हारा धणी,
थारी भाभी का वोल्या वचन न टळै ।

और तेजाजी की मृत्यु के समय उनके संकेत पर वहिन तथा माता को बुला लेती है ।

राधा में वहिन का प्रेम दिखाई देता है । वह ससुराल में तनिक परेशान है । तेजाजी की सास दुष्ट प्रकृति की स्त्री है जो अपने दामाद तक का स्वागत नहीं करती और अपनी पुत्री से दूसरे व्यक्ति को पति रूप में अपना लेने के लिए कहती है ।

परिवार-समाज-चित्रण

'तेजाजी' में अनेक पारिवारिक और सामाजिक आदर्श भरे पड़े हैं । इस गाथा में माता-पुत्र, माता-पुत्री, पति-पत्नी, भाई-वहिन, देवर-भाभी, भाभी-

ननद, सास-बहू, व्याई-व्याण आदि के पारस्परिक सम्बन्धों के इतने सुन्दर आदर्श भरे पड़े हैं कि हाड़ौती-क्षेत्र में 'रामचरितमानस' के पश्चात् यह लोकगाथा ही अशिक्षित वर्ग का पथ-प्रदर्शन करती रही है। इन सम्बन्धों की रक्षा केवल आडम्बरपूर्ण शिष्टाचार से नहीं, अपितु सौहार्द-पूर्ण बंधन से हो रही है। प्रेम का सूत्र इन्हें ग्रथित किये हुए है। मर्यादा का ध्यान प्रत्येक दशा में रखने का सफल प्रयास इस काव्य में मिलता है। तेजाजी राधा को लेने उसकी ससुराल पहुँचे। बहिन सास द्वारा दी गई यातनाओं तथा गृह-कार्य-भार को सुनाने व रोने लगी :

मण पीसू छूं, मण पोऊं छूं, बीराजी म्हारा,
फेंर का तड़का की खेंचूं छूं गेंद बलोवणी।

तो तेजाजी युक्ति से समझाते हैं :

भलो थारो भाग खुल्यो छै।
खूंका करमा मैं लखग्या छै गेंद बलोवणा।

भारतीय-परिवार में सास-बहू, ननंद-भोजाई के सम्बन्ध प्रायः कटुतापूर्ण पाये जाते हैं। इनमें पारस्परिक कलह-द्वेष प्रायः चलता रहता है। तेजाजी अपनी बहिन से पूछते हैं :

नणदोळी थारी कांई मांगै छी री म्हारी बैंनड़।
कांई लेखा सूं ऊनैं मूंडो मोड़ ल्यो।

और अंत में तेजाजी के निर्देशों का निर्वाह करने का परिणाम यह होता है :

नणद भोजायां मल री छै घोड़ी जी हाळा।
मल री छै भाभी का मैं'ल मैं।

'तेजाजी' में अत्यन्त निकट सम्बन्धों में तो स्नेह छलकता दिखाई दे रहा है। पति-पत्नी के पुनीत प्रेम का अंत मोडळ के सतीत्व में होता है। माता के प्रति पुत्र व पुत्री की आज्ञाकारिता, भाभी के प्रति देवर की श्रद्धा व भाई के प्रति बहिन का प्रेम अपने आदर्श-रूप में चित्रित हुआ है। बहुत दिनों के पश्चात् बहिन भाई से मिलती है। जब भाई आया तो मिलनोत्कंठा में वह छत पर से कूद पड़ती है और मार्मिक शब्दों में अपना प्रेम व्यक्त करती है :

बीरो दीख्यायो माणक चौक मैं।
बासूंई छटक पड़ी छै राधा बानड़
आगी छै माणक चौक मैं
दौड़ तो मली छै राधा बानड़—
"घणां ई दना मैं आयो छै रे बीरा जी म्हारा
थारा लेखां सूं बानड़ मरगी सासरे।"

इन सम्बन्धों की परीक्षा संकट के समय होती है। तब वे अपने निष्कलुष व

स्वार्थ-रहित रूप से प्रकट हो जाते हैं। तेजाजी की मृत्यु के पश्चात् भोडळ सती हो जाती है और राधा तथा माता अश्रु में डूब जाती है।

'तेजाजी' में शिष्टाचारों का सुन्दर निर्वाह मिलता है। बड़ों के प्रति ढोक समवयस्कों से आलिंगन-मिलन तथा छोटों के प्रति आशीर्वाद व्यक्त करने के अनेक स्थल गाथा में हैं। हाड़ौती-क्षेत्र में परदे की प्रथा का परिपालन कठोरता से होता है और स्त्रियों का मुख यदि भूल से भी किसी ऐसे सम्बन्धी द्वारा देख लिया जावे, जो न देखने योग्य है, तो उन्हें अपने ऊपर अत्यधिक झुँझलाहट आती है। राधा की सास सूत कात रही थी कि तेजाजी अकस्मात् वहाँ पहुँच गये तब सास के शब्द देखिये :

बालूं जालूं थारी ताण्यां रांट्यां रे माया।
म्हारा लाखीण: सगाजी ने माथै मोड़ी देख ली।

और ठीक इससे पूर्व ही तेजाजी का शिष्टाचार देखिये :

ब्याण्यां जार जुवारी छै घोड़ी जी हाळा
ज्वारी छै रांट्यो कातती।
"झेल म्हांका राम-रमोल ब्याण म्हारी,
म्हारी माता का झेलजे पगल्या लागणा।"

वस्तुत: 'तेजाजी' पारिवारिक आदर्शों से भरी एक सुन्दर गाथा है। जिसमें तेजाजी की सास का व्यवहार खटकता हुआ कांटा है। वह 'मानस' की कैकेयी है। उसमें किसी ऊँचे मानवीय गुण के स्थान पर नीच प्रवृत्तियों को ही पोषण मिला है। तेजाजी के बारह वर्ष पश्चात् आने पर भी उसके वचन होते हैं :

अस्या तो जंवाई मोकळा आवें छै री गूजरां की छोरी।
नतकंई आवें छै प्यारा फावणा।

और अपनी पुत्री के सती होने के निश्चय पर उसे परामर्श देती है :

"यूं कांई बावळी होगी छै है बेटी म्हारी,
तेजल सरीखा जाटां का छोरा मोकळा।"

पर इस पात्र की नीचता का परिणाम तो तेजाजी की मृत्यु रही है, इस पात्र की उपस्थिति से परिवार अवास्तविकता के आरोप से बच गया है।

इस गाथा का समाज का ढाँचा भी स्पृहणीय है। उसका आधार उदात्त मानवीय गुण—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि हैं। जहाँ-कहीं इन गुणों का अभाव मिलता है वहीं इसकी प्रतिष्ठा का प्रयत्न इस गाथा से किया गया है। सत्य की प्रतिष्ठा का प्रयत्न इन पंक्तियों में है :

झूंट घणो मत बोल रे, गूजरी की माना
जुड़या छै ववांड़ बाळू थारो खेल र्‌यो।

अहिंसा-वृत्ति का प्रसार प्राणि-मात्र तक है। गो-रक्षा की भावना से जलते वन

को बुझाते समय सर्प तक की रक्षा करके इस भाव की प्रतिष्ठा की गई है। यहां तक कि जब सर्प दंशन करने के लिए कहता है और घोड़ी कुपित होकर उसे मारने का निश्चय प्रकट करती है तब तेजाजी द्वारा अहिंसा की प्रतिष्ठा इन शब्दों में मिलती है :

"हींदू धरम खवांवां छा घोड़ी री म्हारी।
दूध लाजै छै लछमा माई को।"

लुटेरों को दंडित करके चोरी न करने की प्रतिष्ठा की गई है। दो-चार ऐसे स्थल आए हैं जहाँ चोरी के प्रति सहज घृणा उत्पन्न करने के प्रयास मिलते हैं।

ब्रह्मचर्य के परिपालन का आदर्श तेजाजी के चरित्र में विद्यमान है। आरंभ में भगवद्भक्ति की ओर प्रवृत्ति इस वृत्ति की ही प्रक्रिया है। पनिहारिन के सिर पर घड़ा रखने के ढंग में ब्रह्मचर्य के आदर्श का निर्वाह दिखाई पड़ता है।

"ज्यूंई भरिया ज्यूं ही उच लै फणियारी भाया,
पैंला की तरिया पै न मेलूं कळस्यो बेवड़ो।"

'तेजाजी' में विशाल समाज-चित्रण के लिए अवकाश नहीं था। इसलिए समाज का संकुचित रूप, जिसमें कुछ ही जातियाँ जाट, गूजर, मीना तथा कीर जाति हैं, सामने आ पाया है। इन जातियों के माध्यम से समाज का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है उससे हमारे भारतीय समाज को दिशा-निर्देश करने की अद्भुत क्षमता है। जो उक्त वर्ग में बुराइयां हैं उनका प्रक्षालन कर दिया गया है और उनके स्थान पर मर्यादायुक्त समाज की प्रतिष्ठा की गई है।

अन्य काव्यगत विशेषताएँ

'तेजाजी' का प्रधान रस वीर है। अन्त में करुण रस भी मिलता है। वीर रस का स्थायी भाव उत्साह होता है जो नायक तेजाजी में व्याप्त है। उनके अदम्य उत्साह के समक्ष प्रकृति की बाधाएँ दूर हो जाती हैं और शत्रु परास्त होते हैं। उत्साह निजी स्वार्थ-भावना से प्रेरित न होकर सर्वभूत-हित-कामना-मय होने से उज्ज्वलतम रूप से सामने आता है। इससे प्रेरित तेजाजी को कभी लुटेरों का मान-मर्दन करते देखते हैं, कभी गोरक्षार्थ वन की रक्षा में तत्पर पाते हैं और कभी आर्त व्यक्ति के कष्ट का निवारण करने के लिए जूझते दिखाई देते हैं। वन में जलती हुई घास को देखकर तेजाजी अति उमंग में अग्नि को बुझाते दिखाई देते हैं :

काळ छूंरा की तोड़ी छै घोड़ी जी हाळा,
भूंरो तोड़्यो छै कड़वा नीम को।
लळ-लळ लायां बझावै छै रै घोड़ी जी हाळा
लायां बझावै छै, बांझी बरड़ में।

दयावीरता के भी उदाहरण 'तेजाजी' में हैं :

आंख्या सू दीख्यायो बालक देवता
सेलां सैं सरप उलाळै छै रै घोड़ी जी हाळा,
ढालां पैं झेलग्यो वासक देवतो।
डपटा सूं फटकार्‌यो छै।
फूंच्यो, पपोल्यो छै, हिवड़ै लगाल्यो।
× × ×
आधो दूध बालक कै तांई पा द्‌यो।

युद्ध-वीरता के उदाहरण लुटेरों से किये गए युद्ध के समय मिलते हैं।

करुण रस के लिए इससे मार्मिक घटना कम मिलेगी कि तेजाजी अपनी पत्नी, माता व वहिन की उपस्थिति में सर्प से अपनी जीभ कटवा रहे हैं। उस समय इस गाथा का लोक-कवि चाहता तो भावों के प्रवाह से श्रोता या पाठक को बहुत दूर तक तथा बहुत देर तक बहाता ले जाता, पर उसने थोड़े ही शब्दों में माता और वहिन की व्यथा को इस प्रकार व्यक्त कर दिया :

म्हसूं तो वरी करी छै रै काळा रै बाबा,
छोटी सी उमर मैं वीरो म्हारो छळ लियो।
× × ×
माता थारी ढळ ढळ रोवे छै रै घोड़ी जी हाळा,
रो री छै काळा की भूरी बामल्यां।
थनै म्हसूं वरी करी छै रै म्हारा लाल।
छोटी सी उमर मैं म्हनै छोड़ चाल्यो।

और मोडल का शव के साथ सती होने का प्रसग तो करुणतर है ही।

इस गाथा में बहुत कम अलंकार मिलते हैं। उपमा तथा उत्प्रेक्षा इसके दो प्रमुख अलंकार हैं। उत्प्रेक्षा का उदाहरण देखिये :

जळ मैं डांक पड़्यो छै,
तरै छै जाणै ऊंडा दह की मांछळी।

एक अन्य स्थल पर घोड़ी के लिए कितना सुन्दर उपमान लाया गया है।

घोड़ी नाच री छै सांवण आया मोरडी।

अनेक स्थलों पर भाषा की अनुरणानात्मकता सुन्दर बन पड़ी है।

१. भळ-भळ भाला भळक छै
२. खरळ-खरळ खाळ्या वोले छै
३. खड़-खड़ पेड़्यां उतर्‌यो छै।

गाथा में कथोपकथनों का प्राचुर्य है। गाथा के कथोपकथन घटना और चरित्र का विकास करते हैं। कथोपकथन छोटे हैं। प्रायः दो पंक्तियों में समाप्त हो जाते

हैं। गाथा के कथोपकथन की प्रश्नोत्तर-शैली से वस्तु की रोचकता बनी रहती है। कथोपकथन में पात्रानुकूलता और स्वाभाविकता मिलती है। इसी कथोपकथन शैली में ही आरम्भिक गणेश-वंदना इस प्रकार की गई है :

"कांई तो माता करैगो गणेस्यो,
कांई करैगी देवी सारदा।"
रद सद करैगा गणेस-देव लाल म्हारा,
भूल्या नै संभलावैगी देवी सारदा।

कथोपकथन के बीच-बीच में थोड़े-से विवरण मिलते हैं जो सरस तो हैं, पर पुनरावृत्तियों से युक्त हैं। लोकगाथाएँ स्मृति-पटल पर ही आश्रित रहती हैं, अतः ऐसी पुनरावृत्तियों को दोष-रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता।

हाड़ौती के देवी-देवता और उनका साहित्य

किसी क्षेत्र के लोक-धर्म का अध्ययन उसके लोक-मानस का भी अध्ययन होता है। लोक-मानस की मूल प्रवृत्तियों में से दो प्रमुख हैं। वे हैं—आश्चर्य और भय। आश्चर्य ने जिज्ञासा और ज्ञान को जन्म दिया है और भय ने मानव व्यवहारों को नियंत्रित किया है। भय की आदिम प्रवृत्ति ने प्रकृति के अनबूझ रहस्यों में देवी-देवताओं के अस्तित्व को स्वीकृति दिलाई है। प्रकृति की जिस शक्ति पर मनुष्य का बस नहीं चला है वहीं वह देव-रूप धारणा कर गई है। पर मनुष्य की आश्चर्य की दूसरी प्रवृत्ति उसके विश्वासों को जड़ता से निकालती रही है। अत: धीरे-धीरे भक्ति-प्रेरणा भय से हटकर प्रेम तक पहुँची है। जो शक्तियाँ प्राचीनों को सदैव त्रस्त रखती थीं उनका स्थान कालान्तर में शील-शक्ति सौंदर्य समन्वित अवतारों ने ले लिया है। लोक-मानस का विकास प्राचीन परंपराओं और मान्यताओं को मिटाकर नहीं होता है, अपितु उन पर नवीन स्वीकृतियों की परतें चढ़ाकर होता है। अत: जब हम क्षेत्र-विशेष के धार्मिक विश्वासों का अध्ययन करते हैं तब हमें वहाँ काल-क्रम से जमी धर्म की परतें अपने सजह रूप में मिल जाती हैं।

जब हम कोटा-बूंदी क्षेत्र के देवी-देवताओं पर दृष्टिपात करते है, तब हमें यहाँ के लोक-मानस के सभी धार्मिक विश्वासों के प्रतीक-रूप देवी-देवता मिल जाते हैं। कहीं वे मंदिरों में प्रतिष्ठित हैं तो कहीं उनके लिए चबूतरे बने हैं; कहीं वे मंडियों या छतरियों में स्थापित हैं तो कहीं वे थानकों में पूजे जाते है। अनेक अवस्थाओं में वे घर-घर में स्थायी-अस्थायी रूप में विद्यमान हैं। कुछ देवता तो ऐसे हैं जो प्रत्येक गाँव में मिल जाते हैं; जैसे-भैरू जी आदि। ऐसे देवताओं की स्थापना के लिए किसी स्थापत्य-शिल्प की आवश्यकता नहीं होती है, पर जिन देवताओं की प्रतिष्ठा मंदिरों या छतरियों में है वे ग्राम-समूह में अकेले मिलते हैं। नगर-जीवन की सम्पन्नता नागरिकों की मान्यता के अनुकूल देव-भवनों का व्यय वहन करती रही है। अत: इस क्षेत्र के कोटा-बूंदी नगरों में प्राय: सभी

देवताओं के मंदिर मिल जाते हैं। फिर भी नगर-विशेष या ग्राम-विशेष के सभी देवताओं को समान प्रसिद्धि प्राप्त हुई नहीं है।

रामकृष्ण के अवतार हाड़ौती में अधिक पूज्य बने हैं। कृष्णोपासना को राज-मान्यता प्राप्त होने से कोटा में मथुराधीश, ब्रजनाथ व रंगनाथ के मंदिर मिल जाते हैं। बूंदी में भी कृष्ण के अनेक मंदिर हैं। इस क्षेत्र में शिव मंदिर भी अनेक हैं। कोटा के नीलकंठ, गैपरनाथ के महादेव, चारचोमा के शिव और बूंदी के रामेश्वर आदि के मंदिर शिव-भक्तों के केन्द्र हैं। एक प्राचीन विशाल-शिवलिंग भीमगढ़ में है। कनवास के कर्णेश्वर महादेव भी प्रसिद्ध हैं।

इस क्षेत्र में विष्णु के उपासक भी हैं। बूंदी के लक्ष्मीनाथ जी, केशोराय पाटन के केशोराय जी, शेरगढ़ के लक्ष्मी नारायण जी और बूंदी के चार भुजा जी विष्णु-उपासकों को अति प्राचीन काल से आकर्षित करते रहे हैं। ईश्वर की निराकार रूप में उपासना-परंपरा में कोटा के सत्यनारायण को विशेष मान्यता प्राप्त है। आवां में बद्रीनारायण का एक अति प्राचीन मंदिर है।

वराह रूप में ईश्वरोपासना इस क्षेत्र में प्रचलित थी। वराह भगवान की मूर्ति कृष्णविलास स्थान पर मिलती है। गणेश व नृसिंह के मंदिर भी इस क्षेत्र में मिलते है।

प्रकृति के शक्ति पुंजों में से सूर्य सर्वाधिक पूजित हुए है। सूर्य-पूजा की वैदिक परंपरा इस क्षेत्र में आज भी विद्यमान है। कोटा और बूंदी की सूरज छतरियां इस क्षेव में प्रसिद्ध हैं। बूड़ादीत गाँव का नामकरण तो उसमें पूजित वृद्धादित्य के आधार पर ही हुआ है। इस क्षेत्र में विविध ग्रहों की भी पूजा होती है, पर शनि देवता सर्वाधिक पूजे जाते हैं।

हाड़ौती क्षेत्र में बाला जी, भैरू जी व माता जी की पूजा प्रत्येक घर में होती है। इनकी गढ़-अनगढ़ प्रतिमाएँ लगभग प्रत्येक गाँव में मिल जाती हैं। कोटा में रंगबाड़ी के बालाजी तथा गोदावरी और मोरी के हनुमान जी प्रसिद्ध देवता हैं। दास व वीर हनुमान इस क्षेत्र में पूजे जाते हैं। घास भैरू, काल भैरू व खुल-खुल्या भैरू की पूजा गाँवों में निम्नवर्ग के लोग बड़ी उमंग व श्रद्धा से करते हैं। यहाँ माइता, नाहर्‌या तथा दीवट के भैरू विशेष प्रसिद्ध हैं। कोयला में छप्पन जी की मान्यता अधिक है।

यहाँ पर प्रत्येक परिवार की एक माता या कुलदेवी होती है। परिवार-विशेष की सामाजिक प्रतिष्ठा के साथ-साथ कुछ कुल-देवियाँ विशेष पूज्या बन गई हैं और भक्त जन दूर-दूर से कष्ट निवारणार्थ दर्शनों के लिए आते हैं। इस क्षेत्र में ऐसी लोक-मान्यता है कि वे हमारे दैविक, भौतिक और आत्मिक दुःखों का निवारण करने में समर्थ हैं। अतीत की शक्ति-पूजा की अवशेष चेतना आज देवीपूजा रूप में घर-घर में व्याप्त है। सतूर की रक्त बीजा, देई की खोंवच, पीताम-

पुरा की पीताम्बरा, रामगढ़ की किसनाई, इंद्रगढ़ की बीजासणा, असनावर की रातादेई, कैथून की डाढ़देई, जाखोडा की डेरू माता आदि देवियाँ इस क्षेत्र में विशेष प्रसिद्ध हैं। रोग-विशेष के साथ भी इन देवियों के नाम जुड़े हुए हैं, जैसे शीतला, खलखली और डेरू माताएँ। पार्वती-पूजनरूप में गणगौर की पूजा इस क्षेत्र में अत्यन्त भक्तिभाव से की जाती है।

कुछ ऐतिहासिक वीर पुरुष भी इस क्षेत्र में लोक-देवता रूप में पूजे जाते हैं। तेजा जी, देव नारायण जी, हीरामन जी, पाबू जी, ताखा जी आदि ऐसे व्यक्ति थे जो अपनी त्याग-तपस्या व वीरता के कारण पूज्य बने है। कुछ भक्त भी यहाँ देव रूप में पूजे जाते हैं वे हैं—पीपा जी, रामदेव जी, कबीर दास जी आदि।

लोक देवता की परिधि में त्यौहार-विशेष पर पशु-विशेष भी आ जाते हैं। दीपावली पर बैल, दशहरे पर घोड़े, नाग पंचमी पर सर्प, वत्सद्वादशी पर बछड़े देव-रूप में पूजे जाते हैं। इसी प्रकार कुछ पौधों व वृक्षों की पूजा भी त्यौहार-विशेष पर होती है, वे हैं तुलसी, वड़ पीपल, आंवली आदि। कुछ पर्वोत्सवों पर दवात-कलम, चाक, धूरा आदि भी पूज्य बन जाते हैं। व्याधि-विशेष पर तो हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के देव को पूजते ही हैं, पर सामान्य जीवन में भी हिन्दू गागरोन के मिट्ठे साहब को सीरनी चढ़ाते है और मुसलमान शीतला को नारियल भेंट करते हैं और छावनी रामचन्द्रपुरा के मोतीसर जी को मशक चढ़ाते हैं।

हाड़ौती में देवी-देवताओं की इतनी उदार स्वीकृति को यहाँ के लोक-साहित्य में भी पर्याप्त स्थान मिला है। लोक गीतों, लोक गाथाओं, लोक नाटकों लोक-कथाओं और यहाँ तक कि कहावतों व उपमानों तक उन्हें स्थान प्राप्त हुआ है। भारत में भक्ति की अजस्र धारा अति प्राचीन काल से प्रभाहित है जिसका एक रूप गणेश पूजा में भी मिलता हैं। शास्त्र तथा लोक में समान पूजित गणेश हाड़ौती के लोकगीतों, गाथाओं, कथाओं आदि मे प्रथम स्मरणीय बने हुए है। यह भिन्न बात है कि इस क्षेत्र के किन्ही गणेश जी को वह स्थान लोक-साहित्य में नहीं प्राप्त हुआ जो रणथंभौर के गणेश जी को मिला है। गणेश जी के स्तोत्र लोकगीतों में भरे पड़े हैं। उनमें उनके रूप-गुण की प्रशंसा मिलती है और उनसे अनुकूल फल-दान की याचना भी है। लोक-नाटकों में उनका स्मरण इसलिए किया जाता है कि वे विघ्न-विनाशक हैं और लोक गाथाओं में उनका स्मरण 'मंगलाचरण' स्थानीय है। 'पृथ्वीराज के पवाड़ा' में उनका स्मरण मंगलाचरणरूप में है—

गवरी का गणपत थानै सुवरस्यूं, लागूं गुरां कै पाय।

गणेश, सम्बंधी लोककथाएँ अनेक मिलती हैं। एक कहानी में गणेश जी की तोंद पर तिल चिपक जाने पर उन्हें राजा के यहाँ नौकरी करनी पड़ती है। एक अन्य

कहानी में उनकी तोंद के घी से किसी बहू द्वारा अपनी बाटियाँ चुपड़ लेने पर वे रुष्ट होकर अपनी नाक पर अँगुली रख लेते हैं और उसे वे बहू की लकड़ी की मार के भय से चट् से उतार लेते हैं, जिसे पूजा-प्रतिष्ठा उपरान्त भी वे नहीं उतारते हैं।

सती-छाड़ी को गणेश के उपरान्त महत्वपूर्ण स्थान मिला है। मांगलिक गीतों में गणेश के बाद स्त्रियाँ इनके गीत गाती हैं। ऐसे गीतों की भाषा अति प्रयोग से इतनी घिस गई है कि सहसा समझ में नहीं आती है। छाड़ी या देवी के एक गीत में उससे परिवार के मंगल की कामना की गई है—

म्हारै आज ए आणंद उचाव
म्हारै टूंटो छाडी माता भाव सै।
माता धाड़ी का ओ मंडड में
घीवर डवळो हाथ जोइयो।
आज म्हारै ए गोरी मैंमडो बोपल्यो
ऊंकी मैंमडी ने जाया छै लाडण पूत।

और सती के गीतों में भी उससे यही प्रार्थना की गई है कि मुझे एक पुत्र दे; क्योंकि उसके अभाव में परिवार-जन मेरे विपरीत हैं—

महा माई एक झड़ूल्यो देय
एक झड़ूल्या के कारणै म्हारो कंत परायो
सेज पराई, रूस्यो सब परिवार।

कोटा के रंगबाड़ी के बालाजी को लेकर अनेक लोकगीत गाए जाते हैं; जिनमें 'रंगबाड्यां का बाला जी म्हारी माइली की डाकण छोड़ो जी' और 'सूरज छतरी में बाला जी रंगबाड़्यां मैं' गीत अति प्रचलित है। बालाजी या हनुमान जी को लेकर जो गीत प्रचलित हैं उनमें उनके रूप-सौंदर्य और पराक्रम-पूर्ण कृत्यों का वर्णन रहता है। लोक-नाटकों में भी वीर हनुमान का स्मरण आरम्भ में किया जाता है।

बूंदी के चारभुजा के मन्दिर का वर्णन एक लोकगीत में इस प्रकार मिलता है—

ऊँचा ऊँचा मंदर लाल धजा, परभूई मंदर की देखो छटा।
मंदर सामै गरुड़ जी वराजै, दरवाजा मैं हस्ती खड़ा।
गढ़ बूंदी वराजै चारभुजा, गढ़ गोर वराजै चार भुजा।

इसी प्रकार केशोराय जी, मथुराधीश जी आदि की स्तुतिपरक अनेक गीत स्त्री-समाज में प्रचलित हैं।

तेजाजी, देवनारायण, हीरामन जी, पाबूजी आदि की चरित्र-विषयक लोक गाथाएँ इस क्षेत्र में विभिन्न अवसरों व त्यौहारों पर गाई जाती हैं। तेजा दशमी

को गाई जाने वाली गाथा में पारिवारिक, सामाजिक और वैयक्तिक प्रेरणाएँ विद्यमान हैं। देवनारायण की गाथाएँ 'बगड़ावतों की हीड़' का अंग बनकर आई हैं। जन्म से अलौकिक शक्ति सम्पन्न देवनारायण वंशानुगत वैर-वश रैन के राव जी को युद्ध में मार डालते हैं, पर अपना शेष जीवन गौ-सेवा में व्यतीत करते हैं। हीरामन जी भी बाल्यकाल से ही अलौकिक शक्ति सम्पन्न व्यक्तिरूप में चित्रित हुए हैं। इन वीरों के त्याग और वीरता ने इन्हें देव-स्थान तक पहुँचाया है और आज लोक-मानस इनका उपयोग कष्ट-निवारण के लिए करता है। तेजाजी सर्व-विष-नाशक देवता हैं और देवनारायण गौ-रोग शामक देव हैं। भक्ति और वीर रस से युक्त इन गाथाओं ने लोक-मन को गहराई से पकड़ रखा है।

हाड़ौती की लोक-कथाओं में विभिन्न देवी-देवताओं को पर्याप्त स्थान मिला है। धार्मिक लोक-कथाओं का प्रायः एक ही उद्देश्य मिलता है कि देवता-विशेष की पूजा भक्ति-भाव से करनी चाहिए। 'करवाचौथ माता' की नायिका व्रत-प्रभाव से अपने मृत पति को जीवित करा सकी है। 'आठ सोभागवती' की कहानी में पातिव्रत धर्म की प्रतिष्ठा की गई है। शनि देवता की कहानी भी विक्रमादित्य पर शनि-ग्रह के प्रकोप और मुक्ति की कहानी है। इसी प्रकार नाग पाँचे, बछ-बाळस, नरजला ग्यारस की कथाएँ धार्मिक विश्वासों को पुष्ट करती हैं। तिथियों तक को देवीरूप में स्वीकार करना लोक-मानस की अद्भुत विशेषता है।

इस क्षेत्र के लोक-देवी-देवता यहाँ के लोक-साहित्य में सर्वत्र स्वीकृत हुए हैं। वे हाड़ौती जीवन के अभिन्न अंग बनने से कहावतों तक में प्रवेश पा गए हैं; यथा—आधा मैं देवी-देवता अर आधा मैं खेतरपाळ तथा उन्हें उपमान रूप में भी अपनाया गया है—या तो काळी कंकाळी छै।

हाड़ौती का कलात्मक नाटक : रंज्या-हीर

'रंज्या-हीर' हाड़ौती का सर्वश्रेष्ठ कलात्मक नाटक है जिसमें रंज्या (रांझा) तथा हीर की प्रेम-कथा कही गई है। इस नाटक में काव्य-सौंदर्य जितना निखरा है उतना अन्य नाटकों में नहीं निखर पाया है। साधारण लौकिक कथा के अतिरिक्त यह सूफियों की प्रतीक-पद्धति के ढंग पर लिखी गई रचना भी प्रतीत होती है। इसमें प्रेम भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है। हीर-साहित्य ने पंजाबी साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया है। वहाँ के लोक-जीवन और साहित्य में रंज्या और हीर की प्रेम-कथाओं और गीतों की प्रचुरता है। वहाँ से ही हाड़ौती लोक-साहित्य में यह प्रेम-कथा आई है।

कथानक

रंज्या, जो नाटक का नायक है, एक बार हीर के अलौकिक सौंदर्य को स्वप्न में देख लेता है और उससे इतना अधिक प्रभावित हो जाता है कि अपने मंत्री बीरबल से स्वप्न की बात कहता है और हीर से मिलने के लिए आतुर हो उठता है—

खद मलेगी हीर दीवाणी, नत उठ रऊं उदास।
बीजळी सी वा चमकती स, म्हारी नत-नत सूखे सांस।
चलो बीरबल, हीर मला दो, जद आवें वसवास।
देख स्वाव में खुसी ज्यो होया, म्हारें लगी हीर की आस।

बीरबल रंज्या को स्वप्न की बात पर विश्वास न करने तथा प्रेम-मार्ग की दुरूहताओं को समझाकर उससे दूर रहने का आग्रह करता है, पर रंज्या इससे अप्रभावित रहता है। जब यह समाचार माँ के पास पहुँचता है तो वह अपने पुत्र को राज्य-सुख भोगते हुए अपने पास रहने के लिए समझाती है, पर वह भी असफल होती है। रंज्या की भाभी भी रंज्या को समझाने का असफल प्रयत्न करती है।

उसका क्रोध तो वीरबल पर भी होता है, क्योंकि रंज्या की माँ तथा उसका ऐसा विश्वास है कि रंज्या को यह मार्ग बतलाने वाला वीरबल ही है—

रंज्या खदो न जावै अंबा, हुकम करो दिल खोल।
हराम जादा उजीर नै या, मचा रखी छै पोल।
जादू करकै अलग खड़ो छै, तुम्हे पड़ा नई तोल।
पटक्या फंद लाल पै ऊनै, पास जादू की नोळ।

अंत में, रंज्या वीरबल को लेकर हीर से मिलने के लिए चल पड़ता है। मार्ग में विशाल समुद्र आता है, जिसमें बिना पोत की प्रतीक्षा किये दोनों अपने घोड़े डाल देते हैं और उस स्थान पर पहुँच जाते हैं, जहाँ हीर का बंगला किसी सुरम्य उद्यान के मध्य में बना हुआ है। जंग सीयाला की निवासिनी हीर का निश्चित आवास कहाँ हैं और वहाँ कैसे पहुँचा जा सकता है, इनकी सूचना वीरबल से प्राप्त कर रंज्या हीर से मिलने के लिए चल पड़ता है। वह मालिन को रिश्वत देकर उद्यान में प्रवेश कर लेता है। जब मालिन दरोगा से फटकारी जाती है तो वह कुपित होकर रंज्या की शिकायत राजा फतमल से जाकर कर आती है—

रंज्या तो हीर मिलण कूं आया, छोड़ र तगत हज्यारो।
कळी-कळी पुसबन की तोड़ी, बाग बगाड़्यो सारो।
लड़ो लड़ाई करो तयारी, लीज्यो बैर हमारो।

इस पर फतमल विशाल सेना लेकर चढ़ आता है। रंज्या और फतमल के द्वन्द्व में रंज्या घायल होता है। घायल अवस्था में संज्ञा प्राप्त करने उपरान्त वह लौंडी से प्रार्थना करता है कि तू मुझे हीर से मिला दे—

हीरो हीरो पुकारूँ लौंडी, खुप रई कलेजा मांई।
खुदा तुमारा भला करेगा, मला हीर कै तांई।

जब किसी प्रकार उधर हीर को रंज्या के सच्चे प्रेम का पता लगता है तो वह भी रंज्या से मिलने के लिए तड़पने लगती है। रंज्या हीर के पास पहुँचता है तो वह उस पर अत्यधिक क्रोधित होती है और वह उसे भाग जाने के लिए कहती है—

दे मारूं तलवार बोलिया, किस बद आगो जावै।
× × ×
नकळो बागां बारे मुसाफिर, किस बद मूंड पचावै।

रंज्या की 'पाक मोहब्बत' का प्रस्ताव तथा दीनता-प्रदर्शन हीर को रंज्या की ओर आकर्षित कर लेते हैं। अब वह तन्मय होने के लिए अधीर हो उठती है—

बालम नरमोई कर लो दोसती, म्हानै मत तरसावो।

- तत्पश्चात् दोनों का मिलन होता है। दोनों चौपड़ खेलने में और आनन्द-क्रीड़ा में लीन होते हैं। यहीं नाटक समाप्त हो जाता है।

वस्तुतत्त्व

'रंज्या-हीर' का कथानक अति सरल और अविकसित है। नाटककार का ध्यान नायक-नायिका की भावाभिव्यक्ति की ओर ही रहा है। रंज्या के प्रस्थान करने के उपरांत उसका समुद्र में घोड़ा डालना और युद्ध में मूछित होकर गिरना-दो ऐसी घटनाएँ हैं, जिनसे नाटक में कथात्मक आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। यहाँ दर्शक की उत्सुकता तीव्र हो जाती है और परिणाम जानने की लालसा भी। इस नाटक में कार्यावस्थाओं का उभार स्पष्ट दिखाई नहीं देता। फिर भी स्वप्न-दर्शन से प्रेम के उदय में नाटक की 'आरंभ' कार्यावस्था को देखा जा सकता है। 'यत्न' अवस्था माता-भाभी से विदा लेकर समुद्र पार जाना तथा उद्यान में प्रवेश तक देखी जा सकती है। इसके पश्चात् 'प्राप्त्याशा' का स्वरूप बनने ही लगता है कि फतमल से युद्ध और मूछित होने के प्रसंगों के उपरांत, जो 'फल-प्राप्ति' से दूर ले जाते हैं, हीर में विरह-वेदना की जागृति 'नियताप्ति' अवस्था की सूचक है और अंत में दोनों के मिलने में 'फलागम' को देखा जा सकता है। 'प्राप्त्याशा' का स्वरूप अत्यन्त धुँधला और क्षीण है।

प्रतीकात्मकता

'रंज्या हीर' की कथा सांकेतिक कथा भी है। नाटककार ने इन संकेतों को जायसी के समान स्पष्ट नहीं किया है, पर नाटक की कथा का निर्वाह तथा पात्रों की चित्रण-शैली से समस्त घटनाओं तथा पात्रों को एक अन्य रूप में समझने की प्रेरणा भी मिलती है। नाटककार जिस प्रेम की प्रतिष्ठा इस नाटक में करना चाहता है वह 'पाक मुहब्बत' है, जिसमें किसी वासना की गंध नहीं है। वह सूफियों का 'इश्क-हकीकी' है, 'इश्क मजाजी' नहीं। इस प्रेम की उत्पत्ति स्वप्न दर्शन से हुई है। प्रेम के उदय होने के उपरांत नायक-नायिका को प्राप्त करने के लिए राज्य-सिंहासन का त्याग करके अंगों में 'बभूत' लगाता है और फकीरी वेश धारण करता है—

तगत हज्यारा गादी तुज कर, अंग बभूत लगाया।
कई तरै समझाया ओलिया, किया फकीरी जामा।

यह कथन प्रेम-मार्ग की साधना में सांसारिक आकर्षण से मुक्त होने की ओर संकेत करता है। जिस मार्ग में वह चलता है, उसमें वीरबल के अतिरिक्त अन्य कोई साथ नहीं होता, वहीं उसे 'हीर' के निवास का मार्ग दिखलाता है। उसी ने रंज्या को लौकिक रंग-रसों से पृथक् किया है। उसी ने सारा फंदा डाला है

वह स्वयं रंग-भीना है तथा जादू करके दूर खड़ा है—

पटक्या फंद उजीर नै, रंज्या को बस कीना।
भूल्या घर की वात, लाल नै, रंग-रस सब तज दीना।
उजीर डाल्या फंद लाल पै, समझो जी रंग भीना।
जादू करके अलग खड़ा छै, तुझे पड़े नई तोल।

यह बीरबल जायसी का सुग्रा है—गुरु है, जो साधक या जीवात्मा को मार्ग-प्रदर्शन करता है। रंज्या में जीवात्मा या साधक का प्रतीकत्व मिलता है और हीर परमात्मा की प्रतीक है। रंज्या हीर के स्वप्न-दर्शन के उपरान्त उससे मिलने को उत्कंठित हो जाता है। तब माता और भाभी तथा राज्य-सुख उसे फुसलाने वाले 'गोरख-धन्धे' के रूप में चित्रित किये गए हैं। जो स्थिति 'पद्मावत' में नागमती की है वही यहाँ उपर्युक्त वस्तुओं की है, समुद्र प्रेम का प्रतीक बनकर आया है, जिसमें तैर कर रंज्या हीर के समीप पहुँच जाता है। उपवन के अनेकानेक आकर्षण, मालिन का रोकना आदि साधना-मार्ग में पड़ने वाली विघ्न-बाधाएँ हैं। तू इन विघ्न-बाधाओं या परीक्षाओं में जो साधक सफल होता है, वह ही 'वस्ल' को प्राप्त कर सकता है। हीर के सम्मुख पहुँचने पर भी रंज्या के प्रति अकरुण व्यवहार लौकिक काव्य की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखता, पर प्रतीक-पद्धति में परमात्मा द्वारा साधक को अंतिम परीक्षा लेने की ओर संकेत करता है। वहाँ उसके सच्चे प्रेम की परीक्षा होती है। इसीलिये मिलनोपरान्त भी हीर कहती है कि रे रंज्या, दूर हट, अन्यथा तलवार से प्रहार कर दूँगी। तू कैसे आगे बढ़ रहा है। ऐसा अनुनय-विनय किससे करता है और किससे प्रेम करता है। यहाँ बड़े-बड़े सम्राट भी प्रवेश नहीं कर पाते हैं। यात्री, तू यहाँ से निकल भाग। व्यर्थ में क्यों खोपड़ी चाटता है—

रंज्या परो सरक जा यार, सूंत कै दे मारूं तरवार।
दे मारुं तरवार बोलिया, कस बद आगो आवै।
ऐसी बंदगी करता कुण सै, कुण सै नेह लगावै।
बड़ा-बड़ा गुलजार बादसा, जरा पास नईं आवै।
नकळो बागां बारै मुसाफिर, वस बद मूंड पचावै।

सारांश यह है कि नाट्यकार ने रंज्या-हीर की कथा में एक रूपक का निर्वाह भी किया हैं, जो साद्यन्त मिलता है। इस रूपक के निर्वाह में नाटककार ने सूफियों की प्रतीक-पद्धति को अपनाया है। यद्यपि नाटक के अन्त या मध्य में इन प्रतीकों को स्पष्ट करने के संकेत नहीं दिये गए हैं, किन्तु आरम्भ में रंज्या अपने स्वगत-कथन में अपनी मित्रता या प्रेम का आदर्श 'लैला मजनूं' का प्रकट करता हैं।

लैला मजनूं करी दोसती, भाव खुदा का रक्या।

'लैला-मजनूं' फारसी मसनवी-शैली में लिखी गयी एक प्रसिद्ध कथा है, जो हमारे नाटककार को भी प्रेरणा दे रही है। इन कथा-रूपकों का वास्तविक उद्देश्य 'इश्क मजाजी' के द्वारा 'इश्क हकीकी' का प्रतिपादन करना रहा है। इनमें प्रेम-भावना की उत्पत्ति स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन, गुण-श्रवण या साक्षात दर्शन से होती है। नायक नायिका के सौंदर्य पर विमोहित होकर मिलन के लिए आतुर हो जाता है और फिर लक्ष्य-प्राप्ति के हेतु सर्वस्व त्याग कठिनतम बाधाओं को सहर्ष सहने को सन्नद्ध हो जाता है। विघ्न-बाधाओं को झेलता हुआ अग्रसर होता है और सफलता प्राप्त कर पुनः अनेक अड़चनों को पार कर वह स्वदेश प्रत्यावर्तन करता है।[1] पंजाबी में सूफी कवि वारिसशाह का 'हीर-रांझा' काव्य ऐसी ही लोकगाथा है, जिसका लिखित रूप भी है और लोकगाथा रूप में भी प्रचलित है।[2]

आधार

"हीर की कथा सबसे पहले दामोदर ने अकबर के शासन में लिखी थी। दामोदर हीर के जन्म-स्थान झंग (पश्चिमी पाकिस्तान) के रहने वाले थे। उनका लिखना है कि हीर का वृत्तान्त उनका आँखों देखा हाल है। हीर-रांझा की घटना अकबर के राज्यकाल से करीब ४४ वर्ष पूर्व की थी। तब भारत में बाबर आ चुका था। घोड़ों की टापों से देश की धरती उखड़ रही थी।[3]

इसके पश्चात् वारिसशाह ने हीर की प्रेम-कथा को अपनी प्रेम की पीर में रंग कर अमर बना दिया। वारिसशाह स्वयं प्रेम की पीर से पीड़ित थे। धीरे-धीरे रांझा और हीर की लौकिक कथा में पाया जाने वाला अलौकिक प्रेम भक्त गुरूदास को प्रभावित कर गया और उन्होंने कहा :

रांझा हीर वखानिये।
ओह पिरम पिराती।

तथा गुरु गोविंदसिंह ने हीर के प्रेम की संकेतात्मक रूप में सराहना की है—

यारणे दा सोनूं सथ्थर चोरा।
भट्ट खेड़ियां दा रहणां।

और सूफी कवि बुल्लेशाह का भी ध्यान इस प्रेम-कथा पर गया। उन्होंने दोनों के प्रेम का इस प्रकार वर्णन किया—

रांझा रांझा करदी नी।
मैं आये रांझा होई।

---

१. डॉ० सरला शुक्ला, जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य, पृष्ठ २८५
२. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि, हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ ८५२
३. सत्यार्थी, बेला फूले आधी रात, पृष्ट १७१

सद्दो नी मैनू धीदो रांझा।
मैनू हीर न आखे कोई।

कुछ काल बाद हीर रांझा की कथा में दो-एक स्थल अश्लील भी आकर मिल गये।[1]

हाड़ौती नाटक की कहानी और पंजाबी लोक-साहित्य में मिलने वाली कहानी[2] में अत्यधिक अन्तर है। हाड़ौती कहानी सीधे-सीधे लक्ष्य तक पहुँचकर समाप्त हो जाती है। वह सुखांत है। पंजाबी कहानी में काफी उतार-चढ़ाव व घुमाव-फिराव है और वह दुःखान्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि हाड़ौती के नाटक-कार के पास यह पंजाबी लोक-कथा सीधे न पहुँचकर किसी ऐसे माध्यम से पहुँची, जिसमें इतना घुमाव-फिराव न हो।

इस विवेचन से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं— प्रथम 'रंज्या हीर' नाटक के नायक और नायिका ऐतिहासिक हैं और ये दोनों मुस्लिम परिवारों में पैदा हुए थे।[3] पर बीरबल की सृष्टि कल्पना द्वारा हुई है। फतमल को भी ऐतिहासिक पात्र स्वीकार कर लेने के लिए कोई आधार नहीं मिलता है।

द्वितीय, समुद्र में घोड़ा डालना; उद्यान आदि के वर्णन सूफी काव्यों के प्रभाव से हुए हैं। सूफी काव्य में समुद्र प्रेम का प्रतीक है। उसमें साधक तैरता है या उसमें डूबता है, तब अपने प्रिय से उसकी भेंट होती है। यह हाड़ौती नाटक में भी मिलता है।

चरित्र-चित्रण

यह नाटक प्रतीक-पद्धति पर लिखा होने के फलस्वरुप चरित्र-चित्रण में नाटक-कार ने लौकिक और अलौकिक दोनों पक्षों का समाहार किया है। अतः पात्रों की रेखाएँ कहीं-कहीं दुहरी हैं। नाटककार का झुकाव आदर्श की ओर है।

रंज्या

नाटक का नायक रंज्या—नाटक में एक प्रेमी के रूप में चित्रित किया गया है। रंज्या के प्रेम का उदय स्वप्न-दर्शन से होता है और वह दीवाना हो जाता है—

भर दीवाना हो रीया रे, म्हूं पडूं समंदर मांई।
एक दीना सपना कै मांई, हीर दीवानी आई।

---

१. विशेष जानकारी के लिए देखिए, वेला फूले आधी रात, पृष्ठ १७६
२. वही, पृष्ठ १७४
३. वही, पृष्ठ १७४

वह उसके सौंदर्य पर आसक्त है। यह रूपासक्ति ही प्रेम में परिणत हो जाती है। उसका प्रेम सच्चा प्रेम है। उसमें किसी प्रकार का जादू-टोना नहीं है तथा खुदा का हुक्म भी इस प्रेम के पक्ष में है—

मे हीरो से करां दोसती, हुक्म् खुदा का पाई।
पाक दोसती करां हीर सूं, क्या दुःख दीख्या तौई।
जादू करके परीत लगावै, वो मूरख नर होई।

इस सच्चे प्रेम का अदर्श लैला-मजनूं का आदर्श है। उसकी लगन इतनी सच्ची है कि माता, भावज और बीरबल सबके विरोध की वह उपेक्षा कर देता है—

उस भावज का खिया न माना, आग लगो सब थांकै।

प्रेम की सच्ची लगन होने से वह मार्ग के कष्टों की चिंता नहीं करता है। इसलिये समुद्र को तैर जाता है। फतमल की ललकार उसे पथ-विचलित नहीं करती, अपितु उसके उत्तर में उसकी निर्भीकता व साहस झलकता है—

सारी फोजां मारूं थारी, जंग जीत नई जावै।
झटका सूं बटका करूं थू, तड़प-तड़प मर जावै।

बीरबल ने जिस प्रेम का उदय उसमें किया है उसी प्रेम का विरोध करते देखकर वह उसको भी भला-बुरा कहता है। अन्त में, जिस हीर को प्राप्त करने के लिये वह प्रयत्नशील है उसके समीप पहुँचकर ही उसे तृप्ति नहीं मिलती, अपितु उसमें तन्मय हो जाना चाहता है।

हीर

नाटक की नायिका हीर रंज्या की प्रेमिका है और अपूर्व सुन्दरी है। बारह वर्षीया हीर के नेत्र बाण के समान हैं। भौंहें कमान (धनुष) के समान हैं, जिससे उसने रंज्या को शीतल तीर मारा है। वह दखनी चीर ओढ़ती है। वह बिजली सी चमकती है, जिससे रंज्या का नित्यप्रति श्वास सूखता जा रहा है। उसके कंठ में पान का पीक तक दिखाई देता है और कोकिल कंठी है। वह चन्द्र-वदनी है तथा नेत्रों में सुरमा लगा रखा है। उसकी लम्बी चोटी है जैसे भुजंग हो। उसके सारे शरीर पर कुसुंमी आभा है, उसका सिर नारियल के समान है और अंगुलियाँ मूंगफली के समान हैं तथा छाती दीपक के समान जगमगाती है।

नैण बाण भौंर कुवाण, म्हारै सीतल देगी तीर।
बारा बरस की बोसता, वो ओड्यां दखणी चीर।

× × ×

बीजळी सी वा चमकती, म्हारो नत-नत सूखै सांस।

× × ×

हीर केल की गरब पान को पीक कंठ में झलकै।
कंठ कोकला कोयल बोलै, मोर मेह जनमन के।

× × ×

चंद वदन गुलजार नैण मैं सुरमा लीना मांड।

× × ×

लम्बी चोटी अटक रही थारे, जैसे नाग भुजंग।
देखे नाग भुजंग वदन पर खूब कसूमल रंग।

× × ×

सीस वण्या नारेळ हीर का पेड़ मलाई मेल।
मूंगफली सी आँगळ्यां, सोना पै दीपक का मेल।

जिस प्रेम का उदय रंज्या के हृदय में होता है वही प्रेम हीर के हृदय में पहुँचकर रंज्या के प्रति अनुरक्ति उत्पन्न कर देता है। हीर के प्रेम का आधार रूपाशक्ति नहीं है, अपितु वह आकर्षण है जो दो प्रेमियों के हृदयों में मिलता है। उस प्रेम की चरमावस्था को पहुँचकर वह पूर्ण आत्मसमर्पण करने को विह्वल हो उठती है, यद्यपि आरम्भ में उसमें स्त्री-सुलभ लज्जा और तज्जन्य रंज्या के प्रति कठोरता के दर्शन होते हैं। उसका समर्पण शारीरिक और मानसिक दोनों हैं—

खद होवैगी रात ज्यान मेरी, तुझ पर आसक होई।
या सूरत खटकी दल माँई, ज्यूं तरवार सरोई।
सद रही परदा के भीतर, नजर न आया कोई।
गैली बावळी करी आपनै, जादू कर-कर मोई।

हीर ने अभी तक किसी पुरुष का मुँह देखा ही नहीं था। अतः रंज्या की सूरत देखकर उसकी असक्ति तीव्रतम रूप में प्रकट हुई। रंगरेलियाँ उसे प्रिय हैं अतः उद्यान में सैर करती है, पर इससे भी अधिक प्रिय उसे एकांत रहा है। जिसका कारण पिता का कठोर नियंत्रण है।

हीर का पिता 'फतमल' कठोर पिता और वीर राजा है। वह अच्छा योद्धा भी है। 'वीरवल' में चतुर मंत्री के गुण विद्यमान हैं। उसी के संकेत पर चलकर रंज्या हीर को प्राप्त कर सका है। रंज्या में प्रेम के उदय में उसका कोई दोष नहीं दिखाई देता, फिर भी उसे भाभी तथा माँ का कोप-भाजन बनना पड़ता है। भाभी तथा माँ में जातिगत विशेषताएँ विद्यमान हैं।

रस

रस की दृष्टि से 'रंज्या-हीर' में शृङ्गार-रस की प्रधानता है। शृङ्गार-रस का

उभय-पक्षीय रूप इससे निष्पन्न है। हीर के स्वप्न-दर्शन से रंज्या में पूर्वानुराग उत्पन्न हुआ है। आरम्भ से लेकर मिलन-पूर्व तक यही वियोग फैला पड़ा है। इसमें मानसिक उद्वेलन जितना अधिक है शारीरिक चेष्टाओं द्वारा वियोग को ध्वनित करने का उतना ही कम प्रयास मिलता है। नीचे के छंद में कितनी व्यथा और उत्कंठा व्यक्त हुई है—

क्यूं थू करै फतूर बीरबल, ईसक करै नैं चल कै।
दोन्यां का दिल मलग्या बीरबल, गास कंठ मैं अटकै।
चत मन सै थू चाल बीरबल, हीर मलैगी भटकै।
पानी बना या मीन तड़पै, ज्यों म्हारो दिल तड़पै।

संयोग के चित्रों में कायिक और मानसिक मिलन का सुन्दर चित्रण हुआ है। नाटक में ऐसा संयोग चित्रित है जिसमें दोनों प्रेमी शारीरिक दृष्टि से पास आकर भी एक-दूसरे में मिल जाना चाहते हैं। मानो जिसे हम संयोग कहते हैं वह उनके संसार में पूर्ण संयोग नहीं है। जब तक वे तन्मय नहीं हो जाते तब तक शारीरिक संयोग वियोग सा दिखाई देता है। संयोग का एक चित्र देखिये।

सनमुख प्रीत लगावो आज म्हारो, जोबन झोला खावै।
बींदी सूं झुटणा भडै र, म्हारा गजरा चुव-चुव जावै।
चुड़ला सूं मुड़ला भडैं, म्हारी फूंदा रंग मचावै।
नर बिन नार, पिता बिन पुत्तर, योंई एला जावै।

वीर रस के वर्णन फतमल और रज्या के युद्ध में मिलते हैं। जहाँ दोनों पक्ष के वीरों का उत्साह दर्शनीय है। रंज्या के इस कथन में 'धृति' और 'अमर्ष' हैं—

या तरवार सीरोई फतमल, तोसैं सयो न जावै।
फोजां मारूं रण करूं रै, थारी लोथ गंडकड़ा खावै।
खोटी बात करै मत फतमल, सूता संग जगावै।
खैण मान लै मेरी फतमल, सनमुख मतना आवै।

विरक्ति-सूचक कथन, जिन पर कबीर की छाया स्पष्ट प्रतीत होती है, मामी और माँ के कथनों में बिखरे पड़े हैं।

कवित्व

'रंज्या-हीर' के प्राण काव्य के है और आकार-प्रकार से वह एक नाटक है। वह ऐसा सरस काव्यमय नाटक है जिसके समान हाड़ौती में अन्य कोई नाटक नहीं दिखाई देता। क्या भावों की गहराई और तीव्रता, क्या वर्णनों की सजीवता और कलात्मकता तथा क्या अलंकार की सुन्दर योजना और कथन-शैली का अनूठापन सभी दृष्टियों से नाटककार ने इसे सरस रचना बना दिया है। 'रस'

के सम्बन्ध में विचार हो चुका है, इसलिये यहाँ हमारा भार कुछ हल्का हो जाता है।

'रंज्या हीर' के नाटककार में छिपा कवि भावों की गहराई में प्रवेश करके उनका सरस शैली में चित्रण करता है। उसकी शैली में इतनी सरसता और प्रभावोत्पादकता है कि नीरस कथनों तक में सरसता का संचार हो जाता है। प्रत्येक पात्र आवश्यकता पड़ने पर इसी शैली का आश्रय लेता है। इसलिए नाटक में स्थान-स्थान पर अनेक अलंकार आ धमकते हैं। नाटक में सबसे प्रिय अलंकार उपमा है—

नैण वाण, भंवरा कुवाण, म्हारै सीतल देगी तीर।

'सीतल तीर देगी' में विरोधाभास है और 'नैण वाण' और 'भंवरा कुवाण' में लुप्तोपमा है। उपमाओं में उपमान परम्परायुक्त नहीं है, अपितु मौलिक और प्रस्तुत के मेल में है—

हीरो थू टांटया को छातो, मे नईं घालूं हाथ।

'वर्र का छाता' दूर से मधुमक्खी के छत्ते का आकर्षण तो उत्पन्न करता है, पर यदि किसी ने बिना देखे उसमें हाथ डाल दिया तो शहद के स्थान पर डंक ही मिलने की सर्वथा संभावना है। हीर को बर्र का छत्ता बताने में हास-विलास के समय छोड़ा गया एक तीक्ष्णतम व्यंग-बाण का बोध होता है। उत्प्रेक्षा के उदाहरण भी अनेक स्थलों पर देखे जा सकते हैं।

कभी-कभी एक पूरे व्यापार के समानान्तर दूसरा व्यापार चुनकर भाव को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है—

मरगा तरसँ नीर बना ज्यूं तरसावै प्यारी।

किन्हीं स्थानों पर यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ जाती है कि उत्तर-प्रत्युत्तर का क्रम अन्योक्ति-पद्धति पर चलने लगता है—

रंज्या— संगणी ने ईसक कर्‌यो मरगा सैं दोसती कीनी।
घर की तरया तुज दीनी, सुण भावज रंग भीनी।
मरगो तो छल सैं भर्‌यो, वा पकड़ फंद लीनी।
नई तड़पती ज्यान आपणी, मरगा तुज दीनी।

भावज— खिया हमारा मानना रै, वा करता मन का छाया।
दादर प्रीत करी ठलड़ी सैं, फिर मन पछताया।
सींग पलट सींगणी सूं मरगा नै नैण भड़ाया।
वालक दे मरगया रंगीला सीस कटा घरआया।

वास्तव में, 'रंज्या-हीर' नाटक में कथन-शैली के ऐसे-ऐसे चमत्कारों को देखकर आश्चर्य होता है।

अनेक स्थानों पर शब्द-स्थापन इतना सुन्दर है कि अनुरणनात्मकता द्वारा भी अर्थ का बोध होता है और पदावली भावानुरूपता ग्रहण कर गई है—

झटका सूं बटका करूंस, थू तड़प-तड़प मर जावै।

'झटका सूं बटका करूं' में काटने की ध्वनि सुनाई देती है और 'तड़प-तड़प मर जावै', में तड़पने का भाव मूर्तिमान हो जाता है।

हाड़ौती का एक प्रसिद्ध लोकनाटक : सत्य हरिश्चंद्र

हरिश्चंद सूर्यवंश का एक ऐसा राजा है जो अपनी सत्यव्रतता और दान-शीलता के कारण इतिहास और पुराण-ग्रन्थों में अपना स्थान बना चुका है। उसके अनुकरणीय आदर्श-चरित्र ने साहित्यकारों को भी प्रभावित किया और संस्कृत-हिन्दी में भी काव्य, नाटक लिखे गये। ऐसे प्रसिद्ध और लोकरंजक चरित्र की ओर लोक की दृष्टि भी अतीत से लगी हुई है और वह अपनी पूज्य बुद्धि की स्वीकृति कहानियों व नाटकों में प्रकट करता आया है। राजा हरिश्चंद्र के जीवन-चरित को लेकर नामहीन नायकों की कथाएँ ननिक हेर-फेर के साथ लोक में प्रचलित हैं। लोकनाटकों में ऐसे नरेश के त्याग और तितिक्षा में प्रत्यक्ष घटित होते दिखाया जाता है, जिसका दर्शक पर प्रत्यक्षदर्शिता का-सा तत्काल गहरा प्रभाव पड़ता है। इसीलिए लोकनाटकों में हरिश्चंद्र के समान ही प्रह्लाद, ध्रुव, गोपीचंद आदि के प्रसिद्ध चरित्रों को स्थान मिला है।

हरिश्चंद लीला हाड़ौती में अनेक स्थलों पर अभिनीत होती है। स्थान-भेद से अभिनय-भेद और प्रतियों में पीठान्तर-भेद मिलते हैं। बूँदी नगरी, हाड़ौती की संस्कृति की केन्द्र नगरी रही है। वहाँ के जन-जीवन में लोकनाटकों के प्रति सहज ही अनुराग है। इसलिए लगभग सभी नाटकों की प्रतियाँ वहाँ उपलब्ध हो जाती हैं। प्रस्तुत नाटक की प्रति मुझे बूँदी से ही प्राप्त हुई है। वहाँ कई अखाड़े हैं जिनकी अलग-अलग उस्ताद-परंपरा रही है। ये उस्ताद कभी-कभी लेखक भी होते थे। प्रस्तुत प्रति का लेखक मदन है, जो बीच-बीच में अनेक गीतों में अपनी छाप अंकित किये हुए है—

मदन कहे तू नाथ बचावन हारो।

× ×

मदन कहे बस नहीं रानी का, झड़ी लगाई नैन।

लगभग ऐसी ही छाप 'कान्ह' की भी बीच-बीच में मिलती है—

काम्ह कहे सुण रानी कँवर कूँ यही पै देना दाग।

× × ×

काम्ह कहे तुझको अखत्यार।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ने मिलकर इसकी रचना की हो, पर प्रति की प्रथम तान में 'काम्ह' के स्थान पर 'कन्हैया लाल' नाम मिलता है —

कहे कन्हैया लाल सूर ने चमन मिलाया धूल।

इससे यह स्पष्ट है कि अन्तिम प्रति तक कन्हैयालाल प्रमुखता ग्रहण कर गया था। अतः संभव है मदन ने इस नाटक की रचना की हो और फिर कन्हैयालाल ने नकल करते समय अपना भी नाम इसमें जोड़ दिया हो। इस प्रति से यह स्पष्ट नहीं होता है कि यह किस अखाड़े की प्रति है और उस अखाड़े की उस्ताद-परम्परा क्या रही है।

कथानक

राजा हरिश्चंद (हरिश्चंद्र) इसकी कथा का नायक है। वह एक ऐसे स्वर्ण शूकर का शिकार करने जाता है जो उद्यान को विनष्ट करता रहता है। वह शिकार करने में असफल होता है और उसका अनुगमन करनेवाली सेना से पृथक् होकर वन में भटक जाता है। वन-मार्ग में वह प्यास से व्याकुल हो जाता है और जलपान करना चाहता है, पर उसका नियम यह है कि पहले किसी ब्राह्मण को कुछ दान करता है तब वह जलपान करता है। सहसा एक ब्राह्मण वहाँ प्रकट होता है, जो अपनी कन्या के विवाह के लिए धनाभाव से व्याकुल है। हरिश्चंद उसे दान देना चाहता है, पर वह यह कहता है कि हरिश्चंद उसे मनोवांछित दान नहीं दे पायेंगे। राजा के वचनवद्ध होने पर वह उसका समस्त राज्य एवं सौ भार स्वर्ण दान-स्वरूप मांगता है। हरिश्चंद उसे समस्त राज्य और ४० भार स्वर्ण, जो उसके पास होता है, दान कर देता है। शेष ६० भार स्वर्ण वह स्व-परिवार को वेचकर देने का वचन देता है। उसका पुत्र रोहितास (रोहिताश्व) को जब ज्ञात होता है कि उसके पिता दान के लिए उसे वेचना चाहते हैं तो वह सहर्ष तैयार हो जाता है। रोहितास की माँ भी इस पुण्य कार्य में पीछे नहीं रहना चाहती है और सत्य के रक्षार्थ स्वयं का बिकना स्वीकार कर लेती है। वे तीनों अयोध्या को छोड़कर काशी के लिए प्रस्थान कर देते हैं।

मार्ग-जनित श्रम और ग्रीष्म की संतप्तता मार्ग में रोहितास को विकल कर देती है। एक गाड़ीवान रानी की प्रार्थना पर उनके पुत्र को काशी ले चलता है। काशी में तीनों प्राणियों का मोल-तोल होता है। सर्व प्रथम रानी को एक वेश्या खरीदने आती है। रानी इस समय धर्म-संकट में पड़ जाती है; उसका पतिव्रत उससे कहता है कि वह वेश्या के हाथ न विके, पर सत्य की रक्षा और पति आज्ञा

उसे गणिका के घर पहुँचा देती है। इस विक्रय से ब्राह्मण (जो विश्वामित्र है) को २० भार स्वर्ण प्राप्त होता है। रोहितास का क्रेता वैजनाथ नामक व्यापारी बनता है जो उसके रूप-गुण पर मुग्ध है और उसे खरीदकर अपनी पुत्र-हीनता की पूर्ति करता है। इससे भी विप्र को २० भार स्वर्ण मिलता है। शेष २० भार स्वर्ण के लिए हरिश्चंद को कलुआ हरिजन के हाथ बिकना होता है। कलुआ उसे यह कार्य बताता है कि वह उसके सूअरों की रखवाली व साज-सम्हाल करे और श्मशान में जलाये जाने वाले शवों के लिए प्रति शव ५ टके स्वर्ण ले।

इस विक्रय के पश्चात् तीनों प्राणियों पर विपत्ति का दूसरा दौर आरम्भ होता है। रानी गणिका की सेवा तत्परता से करती है, पर वह उसका अन्न-जल ग्रहण नहीं करती है। अतः कुछ दिनों में वह कृश हो जाती है। एक दिन जब वह जल भरने गंगा-तट पर जाती है तब वहाँ वैजनाथ भी होता है। वह रानी की करुण कहानी को सुनकर गणिका को २० भार स्वर्ण देकर रानी को अपने घर ले आता है और उसे बहिन रूप से घर पर रखता है। रोहितास और माता के मिलन-सुख के दिन आरम्भ होते ही है कि एक दिन रोहितास सेठ की पूजा के लिए उद्यान में फूल चुनने जाता है तब वहाँ एक काला सर्प उसे काट लेता है। भगवान् विप्र रूप में प्रकट होकर सर्प-दंश की सूचना रानी को दे आते हैं। जब तक रानी रोहितास के पास पहुँचती है तब तक वह मरणासन्नता प्राप्त कर लेता है और कुछ क्षण उपरांत मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। रोहितास के शव को लेकर रानी श्मशान में पहुँचती है। जहाँ उसके पति कर-प्राप्ति के लिए नियुक्त होते है। रानी का अनुनय-विनय हरिश्चंद्र को इस बात के लिए सहमत नहीं कर सका कि बिना पाँच टके दिये वह शव-दाह कर ले। रोहितास के दाँत में जड़े स्वर्ण को दाँत उखाड़कर जब राजा द्वारा कर प्राप्त कर लिया जाता है तब शव-दाह की अनुमति रानी को मिलती है। ज्यों ही चिता जलाई जाती है त्यों ही मूसलाधार वृष्टि आरम्भ हो जाती है और वह बह जाती है।

रोहितास की मृत्यु से व्यथित होकर वैजनाथ सेठ रानी पर यह मिथ्या आरोप लगाता है कि रानी डाकिन है और वह उसके पुत्र को खा गई है। वह राज-द्वार पर पहुँचता है, जहाँ काशी नरेश द्वारा यह आदेश सुनाया जाता है कि रानी का वध कर दिया जाये। आदेश के अनुपालनार्थ हरिश्चंद्र के मालिक हरिजन को नियुक्त किया जाता है और वह राजा हरिश्चंद्र को आज्ञा देता है कि डाकिन (रानी) का वध कर दिया जाये। पहले तो रानी [illegible] है पर अपने पुत्र वियोग की व्यथा से व्याकुल होकर मरने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। हरिश्चंद्र तलवार लेकर प्रहार करना ही चाहता है कि [illegible] होकर उनका हाथ पकड़ लेता है। राजा और ब्राह्मण की [illegible] है

तब ब्राह्मण कहता है कि मैं स्वयं ईश्वर हूँ और वह चतुर्भुज विष्णु रूप धारण करता है। यहीं कथा समाप्त हो जाती है।

वस्तुतत्त्व

इस लोकनाटक की कथा का प्रवाह सहज, सरल व कालक्रमानुसार है। अतः कथागत कौतूहल का आधार घटना-संयोजन की कला न होकर परिस्थिति जन्य उत्सुकता है। नाटक की आरम्भिक घटना ही पाठक के मन में उत्सुकता भर देती है। एक सत्यवादी राजा का अपनी दानशीलता के कारण कंगाल से भी बदतर बन जाना पाठक या दर्शक की संवेदना जाग्रत करने के लिए पर्याप्त प्रसंग है। विप्र द्वारा हरिश्चंद्र, रानी और रोहितास को दान-प्राप्ति के लिए बेचने का प्रसंग जहाँ उत्सुकतामय है वहाँ मानव मन को कचोटने वाला भी है। विक्रय की विषमता भी कथाकर्षण की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। पतिव्रता रानी बेची जाती है गणिका को, कल का सम्पन्न नराधिप बेचा जाता है समाज के तत्कालीन निम्नतम वर्ग के व्यक्ति मेहतर को और रोहितास को क्रय करता है एक पुत्रहीन पिता को। उन विषम संयोगों से कथा में प्रसार आता है। नायक के भविष्य की चिंता के साथ-साथ नायिका का भविष्य भी चिंत्य बन जाता है और पुत्र-हीन पिता से रोहितास किस प्रकार हरिश्चंद्र को पुनः प्राप्त होगा, यह दुविधा पाठक को आ घेरती है। तत्पश्चात् संयोगवश रानी और बैजनाथ का गंगा तट पर मिलन होता है और उसके परिणाम-स्वरूप रानी की वेश्या से मुक्ति होती है। वैश्य के घर पर माता और पुत्र का पुनः मिलन घटित होते देखकर पाठक को प्रसन्नता होती है। वह संतोष की एक साँस ही ले पाता है कि रोहितास के सर्प-दंश के कारुणिक प्रसंग के साथ घटना अप्रत्याशित मोड़ लेती है। तब शवदाह का प्रसंग प्रस्तुत होता है। राजा कर्तव्य में बँधा है, पर उसमें पुत्र-प्रेम भी है। रानी अपने पुत्र के शव का दाह करना चाहती है, पर कर रूप में देने के लिए उसके पास द्रव्य नहीं है। वियुक्त गृहस्थी की संयोग की उत्सुक घड़ियाँ अचिन्त्य व अप्रत्याशित हैं। घटना-विकास दिखाने के लिए नाटक में कर्त्तव्य की जीत दिखाई गई है। रानी द्वारा कर चुकाया जाता है। नाटककार शव-दाह के प्रसंग में प्राकृतिक संकट दिखाता है और शव-दाह नहीं हो पाता, चिता बह जाती है। मानों नाटक समाप्त होते-होते रुक जाता है और पाठक का औत्सुक्य बढ़ता है। इसी बीच सहसा एक नई घटना घटित होती है। हरिश्चंद्र का स्वामी हरिजन भी काशी नरेश के आदेश का अनुपालन करता हुआ उसे आज्ञा देता है कि वह डाकिन रानी का तलवार से वध करें और कर्त्तव्य में बँधा नायक यह भी करने को उद्यत हो जाता है—अपनी समस्त गृहस्थी को मिटा देना चाहता है। द्वन्द्व का अद्भुत प्रसंग है और कथा-वस्तु-कला का

चरम बिन्दु। रानी पहले तो दंड स्वीकृति का विरोध करती है और बाद में सहमति दिखाती है। नायक तलवार उठाता है और नायिका का वध करना चाहता है तब भगवान् विप्र रूप मे प्रकट होकर वध रोकते है और अन्त में चतुर्भुज रूप में दर्शन देते है। कथा दुखान्त बनते-बनते सुखान्त बन जाती है।

वस्तु-शिल्प

कथावस्तु में अलौकिक और अस्वाभाविक प्रसंग अधिक है। राजा द्वारा दान में सर्वस्व, राजपाट का त्याग और उसके परिवार-सदस्यो का बिकना, ईश्वर का विप्र रूप में प्रकट होकर रानी को रोहितास के सर्पदंश का समाचार देना, डाकिन का वध करना, ईश्वर का विप्र वेश में आकर हरिश्चंद्र की तलवार पकड़ना और विप्र का चतुर्भुज ईश्वर मे परिवर्तित हो जाना आदि प्रसंग लोक-मन की अतर्कपूर्ण स्वीकृतियाँ है। स्वर्ण-शूकर का प्रकट होना व छिप जाना भी इसी प्रकार की घटना है। इसी प्रकार वस्तु मे आकस्मिकता को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वन में किसी विप्र का प्रकटीकरण अकस्मात् होता है। वन मार्ग में गाड़ीवान का मिलना एक आकस्मिक घटना है। बैजनाथ को गंगा तट पर रानी का मिलना पूर्व नियोजित सम्बद्ध घटना नही है। रोहितास को सर्प-दंश का प्रसग भी किसी कारण का कार्य नही है। इसी प्रकार भगवान् का विप्र रूप में प्रकट होना और रानी को डाकिन होने के संदेह में मृत्यु दंड जैसी घटनाएँ ऐसी है जो कथा-विकास के लिए तो महत्त्वपूर्ण है, पर कार्य-कारण सम्बन्ध से ग्रथित होकर उसमे नही आई है।

इस नाटक की कथा मे मार्मिक प्रसंगो की प्रचुरता है। उसके अनेक प्रसंग हृदय-तल का स्पर्श करते हुए चलते है। राजा की दानशीलता मे सर्वस्व-त्याग तथा अपने परिवार को बेचना, रानी द्वारा गणिका की सेवा करना, हरिश्चंद्र द्वारा मेहतर की नौकरी करना, वन-मार्ग में रोहितास का कष्ट-वर्णन, रानी का गंगा तट पर रुदन, पुत्र का सर्पदंश और रानी का विलाप, पिता द्वारा पुत्र को जलाने से मना करना, पति-पत्नी पर तलवार उठाना, ईश्वर का प्रकट होना आदि ऐसे प्रसंग हे जो नाटक की कथा के मार्मिक प्रसग है और उसे काव्य की रसवत्ता प्रदान करते है।

नाटककार इसकी वस्तु को अनावश्यक व अप्रासागिक घटनाओ से बचाता रहा है। अत सर्वत्र कसावट और तारतम्यता है। वह कार्यकारण सम्बन्ध से जुडी हुई है। रानी सेठ की नौकरी करने लग जाती है। तब उसका गंगा तट पर पानी भरने जाना और वही हरिश्चंद्र का पानी भरने पहुँचना सुन्दर काव्यमय प्रसंग है। वहाँ राजा अपना घडा सिर पर रख पाने में असमर्थता प्रकट करता है और रानी से सहायता करने को कहता है। रानी उसको सहारा

नहीं देती; उसे यह युक्ति बताती है कि पहले वह पानी में डुबकी लगाकर अल्पभार घड़े को अपने सिर पर रख ले और फिर स्वयं उसे लेकर चला जाये। यह प्रसंग नाटक में घटना-योजना की दृष्टि से अलग-थलग पड़ा है जिससे नायक की दुर्बलता व कुशलता तथा रानी की स्पृश्यता-अस्पृश्यता की भावना व्यक्त होकर रह गई है, कथा-विकास में इसका कोई योग नहीं है।

आधार एवं प्रेरणा

हाड़ौती लोक-साहित्य की भक्ति-रचनाओं की सर्जना में अधिकांश में भागवत-महापुराण को आधार बनाया गया है। सूर्यवंश के बीसवें नरेश हरिश्चंद्र का इस पुराण में उल्लेख तो मिलता है, पर इस लोक नाटक का प्रेरणा-स्रोत वहाँ नहीं हैं। क्योंकि न तो कथा-विकास दोनों में समान है और न चरित्र-चित्रण में बहुत साम्य है। वहाँ त्रिशंकु पुत्र हरिश्चंद्र निःसंतान है; जिन्हें वरुण के वरदान से रोहिताश्व पुत्र की प्राप्ति होती है। वरुण उसे यज्ञ पशु रूप में चाहता है, पर हरिश्चंद्र टालता रहता है। अंत में रोहिताश्व अजीगर्त के पुत्र शुनःशेप को मोल लेकर अपने स्थान पर प्रयुक्त करता है। इस यज्ञ में विश्वामित्र होता बनते हैं। बाद में वे हरिश्चंद्र को ज्ञान का उपदेश भी देते हैं जिससे वह अज्ञान को भस्म करता है और अपने स्वरूप स्थित हो जाता है।[1] इसमें विश्वामित्र राजा के अनुकूल वर्णित है। अलबत्ता कथारंभ में हरिश्चंद्र के निमित्त से वशिष्ठ और विश्वामित्र में द्वन्द्व दिखाया गया है।[2] विश्वामित्र की यही रुष्टता प्रस्तुत लोक-नाटक और अन्य संस्कृत-हिन्दी नाटकों में आधार बनी है।

हाड़ौती लोक-साहित्य का दूसरा आधार ग्रंथ महाभारत रहा है, पर उसमें वर्णित राजा हरिश्चन्द्र की कथा भी इस लोकनाटक का आधार नहीं बन पाई है। महाभारत के अनुसार हरिश्चंद्र का स्वर्ग में जाने का कारण उसका राजसूय यज्ञ है।[3] वहाँ कथा का विस्तार भी ऐसा नहीं मिलता है। उसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण की हरिश्चंद्र कथा शुनःशेप से सम्बद्ध कथांश तक सीमित है जो बहुत-कुछ भागवत से मिलती है और विष्णु पुराण में हरिश्चंद्र का नामोल्लेख भर है।

मार्कण्डेय पुराण में राजा हरिश्चन्द्र की कथा विस्तार से दी गई है जो द्रौपदी के पाँच पुत्रों की मृत्यु और 'राजा हरिश्चंद्र की कथा' शीर्षकों से पुराण में वर्णित

---

१. श्री मद्भागवत महापुराण, अध्याय ७, श्लोक ७ से २७ तक।
२. त्रैशंकवो हरिश्चंद्रो विश्वामित्र वशिष्ठयोः।
यन्निमित्तमभूद् युद्धं पक्षिणो बहु वार्षिकम्॥ वही, श्लोक ७
३. देखिये महाभारत, II, पृष्ठ ४८६ X C

है ।[1] २५५ श्लोकों में वर्णित यह कथा प्रस्तुत लोक नाटक के काफी समीप जान पड़ती है । कथा इस प्रकार है—हरिश्चंद्र आखेट के लिए वन में जाता है । वहाँ उसे 'रक्षा करो, रक्षा करो' का आर्त स्त्री स्वर सुनाई पड़ता है। यह स्वर विद्याओं का था जिन पर विश्वामित्र अपने तपोबल से अधिकार कर लेना चाहते हैं । हरिश्चंद्र जब वहाँ पहुँचते हैं तब विश्वामित्र को देखकर भयभीत हो जाते हैं । विश्वामित्र के वाक्छल में आकर राजा उन्हें दक्षिणारूप में अपना सर्वस्व दे देता है । तब विश्वामित्र हरिश्चंद्र को राज्य से निकलने का आदेश देते हैं और जब राजा प्रस्थान करने लगता है तब राजसूय यज्ञ कराने की दक्षिणा विश्वामित्र माँगते हैं । शापानल से भस्म होने के भय से एक मास में दक्षिणा देने का वचन देकर चल देता है । प्रजा उसे रोकती है, पर विश्वामित्र उसकी पत्नी को डंडा मारकर राज्य से निकाल बाहर करते हैं । जब राजा काशी पहुँचता है तब विश्वामित्र भी वहाँ पहुँच जाते हैं और दक्षिणा की अवधि का स्मरण कराते हैं । अपनी पत्नी शैव्या के परामर्शानुसार राजा पत्नी और पुत्र को एक ब्राह्मण को बेच देता है और प्राप्त धन विश्वामित्र ले लेते हैं, पर वे इसे भी थोड़ा बताते हैं । तब राजा प्रवीर चाण्डाल के हाथों बिक कर प्राप्त राशि विश्वामित्र को देता है । राजा चाण्डल के आदेशानुसार श्मशान भूमि से कर वसूल करने लगता है और चिन्ता से जीवित ही प्रेत हो जाता है । वहाँ उसे एक भयंकर स्वप्न दिखाई देता है, जिसमें वह अपने जन्मान्तरों को भी देखता है । धीरे-धीरे उसकी स्मृति क्षीण हो जाती है अतः जब शैव्या सर्पदंश से मृत रोहिताश्व के शव को दाह के लिए लाती है तब वह उन्हें नहीं पहचान पाता है और न शैव्या अपने पति को उस दुर्बल रूप में पहचान पाती है । जब वे दोनों धीरे-धीरे परस्पर पहचान पाते हैं । तब विलाप करने लगते हैं । राजा स्वयं जलना चाहता है, पर अपने स्वामी की आज्ञा के बिना नहीं । पर बाद में पुत्र के साथ यह दम्पती जलने का निर्णय कर लेती है । जब वे जलने के लिए उद्यत होते हैं तब धर्म, इन्द्र व विश्वामित्र राजा के पास आते हैं । पुत्र जीवित होता है । तत्पश्चात् रोहिताश्व को राज्य देकर प्रजा सहित पति-पत्नी स्वर्ग चले जाते हैं ।

इस उपाख्यान की मूल कथा तो लोकनाटक की कथा के समान है, पर विस्तारों में अंतर है । इसी प्रकार चरित्र की मुख्य-मुख्य रेखाएँ भी समान ही हैं । आखेट के अवसर पर दक्षिणा माँगने के हेतुओं में अंतर है । नाटक में रानी (शैव्या) पहले गणिका और तत्पश्चात् वैश्य बैजनाथ के हाथों बिकती है और रोहितास वैश्य के हाथ, पर पुराण में दोनों का क्रेता ब्राह्मण है । राजा का क्रेता, पुराण में प्रवीर चाण्डाल है और नाटक में कलुवा भंगी । संकट दोनों में समान वर्णित

१. श्री राम शर्मा आचार्य—मार्कण्डेय पुराण, प्रथम खण्ड पृष्ठ, ११३ से पृष्ठ १६२ तक

है, पर नाटककार एक और संकट दिखाता है कि रानी डाकिन है और राजाज्ञा से हरिश्चन्द्र को उसका वध करना है। कथान्त में नाटक में तो भगवान स्वयं विप्रवेश तथा बाद में चतुर्भुज रूप में प्रकट होते हैं, पर पुराण में अग्निदाह के लिए प्रस्तुत राजा-रानी को बचाने के लिए इंद्र, धर्म व विश्वामित्र प्रकट होते हैं। नाटक की समाप्ति यहीं हो जाती है, पर पुराणकार कुछ आगे बढ़कर राजा का सप्रजा स्वर्गारोहण का उल्लेख करता है।

अतः स्पष्ट है कि मार्कण्डेय पुराण का हरिश्चंद्रोपख्यान इस लोकनाटक का आधार और प्रेरणास्रोत बना है ; पर यह अनुवाद नहीं है। अनुवाद हो भी नहीं सकता था; कारण उपाख्यान प्रबंधकाव्य है और यह नाटक है। लोकमंच, लोकरुचि और लोकतत्त्वों की आवश्यकता ने उपाख्यान की कथा में तनिक हेर-फेर कराया और कथा को लोकमानस के अनुकूल बनाया है। यह लोकनाटक, सामंती युग की भक्ति-प्रेरित रचना है। आरंभ का सूअर का शिकार राजस्थान के शूरवीरों की शूरवीरता प्रदर्शित करने का आदर्श बनकर नाटक में गृहीत हुआ है और अंत में चतुर्भुज विष्णु के दर्शन यहां की भक्तिधारा की परिणति है। मध्य के प्रसंगों में रानी का गणिका के हाथों बिकना नाटकीय प्रभाव की दृष्टि से अपनाया गया है। अयोध्या-काशी की पदयात्रा कष्ट शृंखला की कड़ी बनकर आयी है। बीच-बीच में कुछ करुण प्रसंगों की अवतारणा नाटकीय प्रभाव को गहरा करती है।

नाटक के पात्रों के चित्रण में भी समानता है। दोनों के विश्वामित्र समान हैं, पर हरिश्चंद्र का कर्तृत्व और व्यक्तित्व उपाख्यान में अधिक उभरा है और नाटक का रोहितास व्यक्तित्व-शून्य नहीं है, उसका अपना अस्तित्व है।

पुराण के अनेक विचार-भाव-स्थलों का नाटक में अनुवाद या विस्तार मिलता है—

सत्येनार्कः प्रतिपति सत्ये तिष्ठाति मेदिनी।
सत्यंचोक्तंपरो धर्मः स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः।
अश्वमेध सहस्रं च सत्यं चतुलयाधृतम्।
अश्वमेध सहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते।[1]

इन्हीं का विस्तार नाटक में इस प्रकार है—

तेरा सत्त पै सत्त शेशजी सहे धरा को भार।

× × ×

1. श्रीराम शर्मा आचार्य—मार्कण्डेय पुराण, भाग प्रथम, राजा हरिश्चंद्र की कथा श्लोक सं० ४१ व ४२

सत्त की बाँधी लछमी फेर मलैगी आय।
× × ×
सत्त पै साहब मिलसी आक।
× × ×
धर्म हूँ येन ब्रह्म रूप अवतार।

इसी प्रकार कर्मफल के भोग की बात भी दोनों में समान रूप से मिलती है।

नाटक में रानी को डाकिन कहकर वध करने का जो कथांश मिलता है वह भी नाटककार की उपज प्रतीत नहीं होता। संस्कृत ग्रंथ के आधार पर वामन शिव राम आप्टे ने अपने हिन्दी-संस्कृत-कोश में उसको इस प्रकार दिया है—एक बार इसके (हरिश्चंद्र के) कुल-पुरोहित वशिष्ठ ने इसकी प्रशंसा विश्वामित्र की उपस्थिति में की, विश्वामित्र ने विश्वास नहीं किया। इस पर विवाद खड़ा हो गया। अंत में यह निर्णय किया गया कि विश्वामित्र स्वयं इसके सत्य की परीक्षा लें। तदनुसार विश्वामित्र ने इसे अत्यन्त कठिन परीक्षण में डाला जिससे कि यह पता लग सके कि क्या यह अब भी अपने वचनों पर दृढ़ रहता है। इतना होने पर भी राजा ने उदाहरणीय साहस का परिचय दिया। यद्यपि इसे इस परीक्षा में अपने राज्य से हाथ धोना पड़ा। अपने पत्नी और पुत्र को बेचना पड़ा, यहाँ तक कि अंत में अपने-आपको भी एक चांडाल के घर बेचना पड़ा। अपने अदम्य साहस और सचाई के लिए हरिश्चंद्र को अपनी पत्नी को मायाविनी मानकर मारने के लिए भी तैयार होना पड़ा तब कहीं विश्वामित्र ने अपनी हार मानी और योग्य राजा को प्रजा समेत स्वर्ग में ऊँचा स्थान दिया।[1]

भारतेन्दु हरिश्चंद्र द्वारा लिखा गया, 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक का आरंभ विश्वामित्र की परीक्षा से होता है, पर परीक्षा-प्रेरक इन्द्र है। वशिष्ठ यहाँ नहीं है। अंत में यहाँ स्वयं भगवान् प्रकट होते हैं और उनके साथ शिव, विश्वामित्र आदि भी हैं।[2] पर जो हाड़ौती नाटक है उसकी रचना इससे पूर्व हो चुकी थी।

भारतेन्दु के सत्य हरिश्चन्द्र नाटक का आधार क्षमीश्वर का चंड कौशिक कहीं-कहीं सिद्ध किया गया है।[3] हाड़ौती लोकनाटक में इस साहित्यिक रचना की प्रेरणा न होकर मार्कण्डेय पुराण की धार्मिक प्रेरणा ही आधार बनी है। रामचद्र कृत 'सत्य हरिश्चंद्र नाटक' भी इसका प्रेरणा स्रोत नहीं बन पाया है। इन सभी नाटकों का आधार एक प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान है और उसमें कुछ हेर-फेर कर सभी नाटकों की रचना हुई है।[4]

---

१. वामन शिवराम आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश, पृष्ठ ११६६
२. भारतेन्दु हरिश्चद्र—सत्य हरिश्चन्द्र नाटक का चौथा अंक
३. सोमनाथ गुप्त—हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३६ से ४३ तक
४. स० ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु नाटकवली, भूमिका पृष्ठ ३८

मार्कण्डेय पुराण अति प्राचीन पुराण है और इसने भारतीय लोकमानस को पर्याप्त प्रभावित किया है। अतः प्रस्तुत लोकनाटक का आधार मार्कण्डेय पुराण ही रहा है।

पात्र एवं चरित्र-चित्रण

प्रस्तुत नाटक में तीन प्रमुख पात्र हैं—हरिश्चन्द, रानी व रोहितास। शेष गौण पात्र हैं—विप्र (विश्वामित्र), गणिका, सेठ वैजनाथ, कलुवा मेहतर गाड़ीवान और ईश्वर। प्रथम प्रकार के पात्रों के चरित्र-चित्रण में विस्तार और गहराई दोनों हैं, पर दूसरे प्रकार के पात्रों की झलकियां मात्र होने से न विस्तार है न गहराई। ऐसे पात्रों को भी मार्मिक प्रसंगों में दिखाकर उनके व्यक्तित्व के महत्त्वपूर्ण पहलू प्रस्तुत किये गए हैं। दोनों प्रकार के पात्रों में जाति और व्यक्ति दोनों उभरे हैं।

नाटक के नायक हरिश्चंद का चरित्र-चित्रण भावना और कर्त्तव्य के माध्यम से हुआ है। वह अपनी दानशीलता और सत्यवादिता के लिए प्रसिद्ध है और दृढ़व्रती है। वह दानवीर है। दान देते समय याचक की भीषण लोभवृत्ति भी उसके उत्साह को डिगा नहीं सकी है। परन्तु यह नायक का सौभाग्य ही है कि उसे अपने अनुरूप पत्नी और पुत्र प्राप्त हैं। इससे उसके पत्नी-प्रेम और पुत्र-प्रेम मंद नहीं पड़ पाए हैं। वह भारी हृदय से पत्नी को गणिका को तथा पुत्र को वैश्य को बेच देता है। इस प्रकार उसकी दानवीरता व सत्य-वीरता सापेक्ष बन गई है। वह कर्त्तव्यपरायण भी उतना ही है। अपने स्वामी कलुवा मेहतर के हाथों बिकने पर वह कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय अपने ऊपर नहीं रखता। नौकर का धर्म है; स्वामी की आज्ञा का पालन; जिसका निर्वाह वह सूअरों की साज-सँभाल करके और मरघट पर कर वसूल करके करता है। वह नमकहरामी नहीं करता है—

यही मेरा है काम, चुकूंगूं पहली म्हूं भी दाम करे म्या मेरा रुजक तमाम।
म्हूं संकोच रखूं नहीं किसी की म्हूं नहीं नमक हराम॥

और जब उसकी पत्नी उसके पुत्र रोहितास का शव जलाने आती है तब वह अपने कर्त्तव्य पर अडिग रहता है। उसे मरघट का कर चाहिए जो रानी के पास नहीं होता है। उसकी इस युक्ति पर कि चुपचाप शव-दाह कर ले, हरिश्चन्द उत्तर देता है—

दाग लग्या परगास देखकर धणी छुड़ावे वास, धणी के मेरा ही वसवास।
वसवासघात नहीं करूँ नहीं यहां जलै ले जा लाश।

और कर्त्तव्य की डोर से बँधकर वह अपनी पत्नी का वध करने के लिए उद्यत हो जाता है—

मारूँ डाकण को अबार, नौकरी से म्हूं लाचार ।
उठाई अब मारूँ तलवार ।।

उसका विश्वास है कि पाप और पुण्य आज्ञा देने वाले को लगते हैं आज्ञा-पालक को नहीं—

कहण कळवा की सकूँ न टार, मुझको पातक मही नार ।
हुक्म कळवा का सकूं न टार ।
मुझको पातक नहीं हुक्म में पातक समझै ग्वांर ।

वह तो विप्र वेशधारी ईश्वर से कहता है कि मैं मतिमंद नहीं हूँ और भक्षक (रानी) का अवश्य वध करूँगा—

वीप्र तुम सुनो नहीं मति मंद,
भक्षक को नहीं छोड़ूं, मेरो नाम हरिश्चन्द।

राजा हरिश्चन्द का विश्वास है कि सत्य का निर्वाह प्राणों की वाजी लगाकर भी किया जाना चाहिए। उसके सत्य-निर्वाह का प्रमाण इस प्रकार है—

सत्त नहीं छोड़ूं वचन प्रमाण रहेगा जब तक धड़ में प्राण।
× × ×
तेरा सत्त पै सेसजी सहे धरा का भार ।।
× × ×

और इसीलिए चालीस दिन पश्चात् भोजन बनाने जा ही रहा था कि एक ब्राह्मण आकर उससे भोजन मांगता है तो उसे सब-कुछ देकर गंगाजल पान करके संतोष कर लेता है—

तेरा रक्खा सरीर, पीत हूं खाली गंगा नीर
बनाओ भोजन गंगा तीर।
ले लीज्यो सत छोड़ूं नाई जद ताई रहे सरीर ।।

राजा हरिश्चन्द शिकारी भी है, पर वह शिकार इसलिए करता है कि उससे जनहित होता है। शूकर ने माली का उद्यान बिगाड़ा है इसीलिए वह उसे मार डालना चाहता है। एक राजा के दायित्व का निर्वाह करता है।

दृढ़व्रती राजा हरिश्चन्द पर समझाने-बुझाने का कोई प्रभाव नहीं होता है। विश्वामित्र के समझाने पर भी वह बिना दान दिए जलपान नहीं करता है। उसका यह व्रत छुआछूत से भी प्रेरित है। मेहतर की नौकरी तो वह करता है, पर उसके घर का अन्न नहीं खाता है। इसलिए वह अनुदिन कृश होता जाता है। उसकी कृशता व दुर्बलता इस सीमा तक पहुँच गई है कि वह एक पानी का घड़ा भी स्वयं नहीं उठा पाता—

नीच घरां का उचा सके नहीं मुझको रानी नीर
भरा जद घड़ा रखा है तीर।
घटे धरम सत उठे, ऊँचे नहीं सरदा नहीं सरीर।

पर यह दुर्बलता उस समय नहीं दिखाई देती है जब कलुवा के आदेश पर उसे रानी का वध करना होता है—

तरवार सूंप दे मुझे, नहीं है देर खड़ा तैयार।

राजा हरिश्चन्द की शक्ति उसकी पत्नी है। उससे शक्ति प्राप्त कर वह लोक में अभूतपूर्व आदर्श प्रस्तुत कर सका है। फिर भी उसमें मानवीय दुर्बलता है। जिस उमंग से वह अपना सर्वस्व विश्वामित्र को दान कर देता है उसी उमंग से वह रोहितास को यह तथ्य प्रकट नहीं करता है और न रानी को उसी उत्साह से बेचने के लिए उद्यत होता है। ये ही दुर्बलताएँ उसे निरा आदर्श—काष्ठवत् आदर्श बनने से बचा गई हैं। अपनी इन दुर्बलताओं में हरिश्चन्द अधिक आकर्षक और अनुकरणीय बन गया है।

हरिश्चन्द की पत्नी रानी नाटक की नायिका है, जो त्याग और आदर्श-निर्वाह में अपने पति से दो कदम आगे है। उसके चरित्र-चित्रण में अन्तर्द्वन्द्व अधिक है। नारी सुलभ कोमलता के कारण वह अपने पति और पुत्र के मध्य संकल्पों-विकल्पों में जी रही है। इसलिए उसका चित्रण कहीं अधिक आकर्षक और प्रभावपूर्ण है। वह राजा हरिश्चन्द्र की पूरक और शक्ति दोनों हैं। राजा का त्याग उसका भी त्याग है और राजा के सत्य-निर्वाह में उसकी भी प्रेरणा है। दानशीलतावश राजा राजपाट छोड़ और परिवार को बेचने के लिए उद्यत हुआ, पर रानी ने तनिक भी विरोध नहीं किया। इसके विपरीत वह तो सती-साध्वी पतिव्रता स्त्रीरूप में कहती है—

हाजर खड़ी आपकी नार, हुक्म मुझ पै करो।
पुत्तर और मुझको राजन बेच, दाम इनका भरो॥

उसकी आस्थाएँ अडिग हैं—

क्या समझो मन माई पतीजी, सिंधू छोड़ दे कार
चलै जद उलटी गंगा धार।
सै'स धरा नई धरै बेच दो चालूं आपकी लार॥

क्योंकि वह भाग्यवादिनी है। अतः उसका दृढ़ विश्वास है कि ब्रह्मा का लिखा भाग्य भोगना ही पड़ेगा—

ज्यो लिख दिया विधाता, मटता नहीं सुण भरतार।

उसका भाग्यवाद कर्मावृत है—

दुख सुख भोगै उतना जतना लख्या भाग करतार
भोगना पड़ै करम अनुसार।

अतः विवेक-प्रेरित होकर वह प्रश्न करती है कि वह पतिव्रता स्त्री है, फिर भी उसका ऐसा भाग्य क्योंकर है ?

म्हूं पती बरता नार बदाता ये क्यूं लिखी ललार ।

वह तो परम भक्तिन भी है। संभवतः उसका विश्वास है कि भक्त पर संकट आते ही रहते हैं—

भगती करतां विपत पड़ी जद आई आपकी लार ।

इस विश्वास पर वह जीवित है कि ईश्वर भक्तों की रक्षा करने के लिए आते हैं। अतः भक्त को सत्य का मार्ग कभी नहीं छोड़ना चाहिए—

कंत सत को मत दीज्यो छोड़, विपत को जाण के।
भगत भगवंत दया कर आय, खबर ले आण के ॥

सत्य-मार्ग पर चलने के लिये उसके सामने प्रहलाद आदि के आदर्श प्रस्तुत हैं।

धर्म या आचरण का एक संकीर्ण रूप भी है, जिससे वह बंधी हुई है। छुआछूत में विश्वास रखने के फलस्वरूप वह न वैश्या के घर का अन्न-जल ग्रहण करती है और न अपने दुर्बल पति के सिर पर उसके स्वामी मेहतर का जल का घड़ा रखवाती है पर उसमें सूझबूझ है अतः वह हरिश्चन्द को युक्ति बताती है कि पहले भरे घड़े को खाली कर लो और नदी में डुबकी लगाकर सिर पर रखे घड़े को भरकर बाहर निकल आओ। जल में घड़ा अल्प भारी होने से आपको कठिनाई नहीं होगी—

नीर भरा घड़ा ऊँचें नाईं, क्या कीजे तदबीर
घड़ा ज्यो भरा ढोळ दो तीर।
जळ के भीतर भार रहे नहीं ऊँचो घड़ा भर नीर।

यही सूझबूझ उसको अपने पति से रोहतास के शव-दाह के अवसर पर यह कहलवाती है—

धणी देखने आवे नहीं, पुत्र दीजिए दाग।

रानी माता की ममता और कोमलता यह नहीं देख सकती कि उसका पुत्र ग्रीष्म की भीषणता से पानी के लिए तड़प कर मर जाये। अतः गाड़ीवान से अनु-नय-विनय करके रोहितास को गाड़ी में बिठाती है। और जब वह तो वेश्या द्वारा खरीद ली जाती है और पुत्र बैजनाथ वैश्य द्वारा तब पुत्र-वियोग से वह व्यथित रहती है। वह सेठ से प्रार्थना करती है कि मुझे वैश्या से खरीद कर मेरे पुत्र से मिला दो—

मिलावो आप पुत्तर सैं जार।

पुत्र-वियोग में तो वह जीवित भी नहीं रहना चाहती है। वह अपने डाकिन होने के मिथ्यारोप का प्रतिवाद करती है, पर पुत्र-शोक से विह्वल होकर अपने पति से प्रार्थना करती है—

उड़ावो सीस मार तलवार, कंत मतना डरो।
पुत्तर को दुक्ख सह्यो नहीं जाय, वार मुझ पै करो।।

वह आत्म-पक्ष और लोक-पक्ष दोनों पर दृष्टि रखती है। अपने पवित्र आचरण और सत्य-निर्वाह के उपरान्त भी जब डाकिन होने के कलंक से लांछित हो जाती तब अपनी निराश्रयता में परमात्मा का आश्रय खोजती है—

अजी धारो चत्त मैं दया, आसरो थारो।
ऊ झूठो लागै कलंक नहीं म्हारो सारो।।

आँचल में दूध और आंखों में पानी लेकर चलने वाली रानी का चरित्र नाटककार की कुशल कला का प्रतीक है। उसका पातिव्रत, पुत्र-प्रेम, कर्त्तव्य-भावना, विवेक और सत्यनिष्ठा अनुकरणीय है। स्वयं नाटककार ने उसके सम्बन्ध में नाटकीय शैली से हटकर अन्त में इस प्रकार का मत व्यक्त किया है—

रानी सुणी पुकार, धन्य हो ईश्वर तुम करतार,
धन्य है यह पतिवरता नार।
मदन सत्य राणी का सत पै दर्शन दीना आर।

उसमें नारी की कोमलता है, जो किसी भी आरंभिक विपत्ति पर उसे विचलित कर तो देती है, पर दूसरे ही क्षण उसका विवेक, पति-भक्ति, पुत्र-प्रेम आदि उसे सँभाल लेते हैं। पुत्र ने पिता के राज्य त्याग का समाचार दिया और वह 'राज-घरों" के चैन, छूटने की कल्पना से सिहर उठती है और रोने लगती है, पर दूसरे ही क्षण कह उठती है—

सुनो पुत्तर रोहितास सत्त सूं खड़ा जमीं असमान
अमर हो रहे चन्द्रगण भान।
सत छोड़्यां पत जाय पती की नस्ते करके जान।

रोहितास

रोहितास (रोहिताश्व) हरिश्चंद का पुत्र है। वह विवेक-सम्पन्न, सत्य-निष्ठ और आज्ञाकारी पुत्र है। उसके पिता विश्वामित्र को सर्वस्व दान कर आये हैं और पारिवारिक चिन्ता से युक्त हैं। रोहितास उन्हें उदास देखकर पितृ भक्त पुत्ररूप में उन्हें आश्वस्त करता है और बिकने को उद्यत हो जाता है—

क्यूं चत राखो उदास, विकूंगूं चाल आपकी लार।

और अपनी माता को उसी उत्साह से कहता है—

छोड़ कै चलो मात धन धाम।
पिता नै कर दीना पुण्य तमाम।

जब नारी की कोमलता के युक्त माता तनिक विचलित होती है तब वह उसे धैर्य बंधाता है—

आस धरां की छूटी माता हो नाहीं उदास।
पिता का पुण्य चंद परगास।
चत्त कुन्द नहीं करो मात जी, अरज करे रोहितास।

उसका यह धैर्य माता से पृथक् होकर बिकने की कल्पना से टूटता-सा दिखाई देता है, पर इसका हेतु उसका अपना सुख नहीं है, अपितु माता के विरह दुःख की कल्पना ही है। अतः विश्वामित्र से उसकी प्रार्थना होती है कि मुझे अपनी 'मात की लार (साथ)' बेचना क्योंकि मेरी माता रोकर मर जायेगी—

माता रोऊं मरैगी म्हारी, मुझे पड़े नहीं चैन।

रोहितास गुणवान दीखता है। अतः सेठ बैजनाथ उसे सहर्ष खरीद लेता है। यहाँ तक कि अपने पुत्र के स्थान पर ही उस पर वत्सलता प्रकट करता है। कुशल भृत्य रूप में वह अपने स्वामी का आज्ञापालक है। अतः उसका धेय होता है कि प्रत्येक आदेश का पालन अविलम्ब हो—

बैजनाथ ने कहा पुसब तुम लाओ करो न देर
पुसब की आग्या दीजे अंब।

उसकी कष्ट सहिष्णुता अद्वितीय है। वह अपने कष्ट का कम ध्यान रखता है और अपने माता-पिता के कष्टों की उसे अधिक चिन्ता रहती है। उसे सर्प काट खाता है; मृत्यु उसके सामने खड़ी है, पर उसको अपनी चिन्ता नहीं है। उसको चिन्ता है—

आँख पुत्तर नहीं खोलै तेरो पिता नहीं है पास।
बँधावै कौन मात विसवास।
हांई काळ तेने बुरा किया माता रहे उदास।

उसकी मृत्यु अति सन्निकट है। विष-लहर से वह अचेत पड़ा होता है कि माता के शब्दों की भनक उसे सुनाई पड़ती है और वह निर्वाणोन्मुख दीपशिखा के अंतिम दीपशिखोदय के समान चकित भरकर बोल उठता है, पर तब भी उसका मातृ-प्रेम और विवेक उसके साथ होता है, वह स्वचिन्ता से मुक्त है—

अस्यो सोच मत करो मातजी, यह करमों का फेर।
मनुस का ही काळ है बैर।
अब बोलन की सकती नांई लिया काळ ने घेर।

वह विचारों से तो काफी परिपक्व व प्रौढ़ लगता है, पर अवस्था से काफी छोटा है। अतः अयोध्या से काशी जाते हुए उसका कोमल वपु कुम्हला जाता है, वह घबरा जाता है—

भाड़ा डूबे नाहीं तुम्हारा घबराया रोहितास।

रोहितास का चरित्र भी नायक का पूरक और प्रेरक बनकर चित्रित हुआ है। वह व्यक्ति धन्य है जिसको ऐसे पत्नी और पुत्र मिले हैं—

धन्य पुत्तर, धन्न भूप, धन्य है सतवन्ती नार।

गौण पात्रों में विश्वामित्र प्रमुख हैं। वे कुटिल, प्रपंची, निर्दय व निष्ठुर रूप में चित्रित हुए हैं। विप्रवेशधारी विश्वामित्र छल से राजा से समस्त राज्य व दक्षिणा रूप में सौ भार स्वर्ण प्राप्त करते हैं। साठ भार शेष स्वर्ण के लिए हरिश्चंद, रानी व रोहितास को बेचते समय उन्हें तनिक भी दया नहीं आती है। अपनी स्वार्थसिद्धि में वे क्रेता और विक्रय-व्यक्ति की पारस्परिक अनुकूलता का भी ध्यान नहीं रखते हैं। यों बीच-बीच में बड़ी-बड़ी ज्ञान व धर्म की बातें करते रहते हैं—

छोड़ दे भूप धरम हरिश्चन्द,
सत्य में पड़े बहुत सा फंद।

बैजनाथ सेठ अपने वर्ग का प्रतिनिधि न होकर उदार, सहृदय, पुत्र-प्रेमी और ईश्वरभक्तरूप में चित्रित हुआ है। गुणग्राही बनकर वह रोहितास को प्रसन्नता से खरीद लेता है और पुत्र-प्रेम से प्रेरित होकर उसका अपने पुत्ररूप में पालन करता है। उसका यह पुत्र-प्रेम धीरे-धीरे पुत्र-मोहरूप में परिवर्तित हो जाता है। अत: जब रोहितास की सर्पदंश से मृत्यु हो जाती है तब वह विवेक खो बैठता है और रानी पर यह लांछन लगाता है कि वह डाकिन है और उसके पुत्र को खा गई है। परदु:खकातरता उसकी सहृदयता की सूचक है। गंगा तट पर रानी को अश्रु बहाती देखकर वह उसे गणिका से मूल्य चुकाकर खरीद लेता है और अपनी बहिनरूप में घर पर रखता है।

कलुवा मेहतर सम्पन्न व निर्दय व्यक्ति है। राजा को खरीदकर वह उसे सूअर की देखभाल का कार्य सँभलाता है। वह श्मशान से कर वसूल करवाता है और हरिश्चंद को इस कार्य के लिए नियुक्त कर अपनी अभद्रता का परिचय देता है; क्योंकि वह जानता है कि हरिश्चंद राजा था। वह स्वामी के दर्प से दीप्त होकर अपने भृत्य को उल्टे-सीधे आदेश देता रहता है। यह जानते हुए भी कि अपराधिन डाकिन (रानी) उसकी पत्नी है वह उसके वध का आदेश हरिचंद को ही देता है। परन्तु राजा के छुआछूत की रक्षार्थ वह उसके आटे दाल की व्यवस्था बनिये की दूकान से कर देता है।

गणिका अपने वर्ग की प्रतिनिधि है, जो संपन्न है और अपनी क्रय-शक्ति से रानी को खरीदती है। वह विलास में पलती है और चाहती है कि रानी उसकी अच्छी सेवा तो करे ही, उसके पथ का अनुसरण भी करे और रानी के ऐसा न करने पर वह उसे सेठ के हाथों बेच देती है।

ईश्वर भक्तवत्सल हैं। हरिश्चंद्र परिवार के सत्यनिष्ठा में खरे उतरने पर प्रकट होते हैं—पहले विप्रवेश में और फिर चतुर्भुज रूप में। इससे पूर्व वे संदेश-वाहक बनकर विप्रवेश में रानी को रोहितास के सर्पदंश की सूचना दे आते हैं।

कथोपथन

पद्य-शैली में लिखे गये इस लोकनाटक की तानों के तीन प्रकार मिलते हैं। सामान्य तानें जिनमें दो वक्ताओं के बीच कथोपकथन होता है। तान धूम की जो एक प्रकार के स्वगत कथन हैं और खाली तान भी एक प्रकार के स्वगत कथन ही हैं। पर पहली तान का उपयोग आत्माभिव्यक्ति के लिए होता है और उसका उपयोग तीव्र अनुभूति के क्षणों में होता है। खाली तान कथानक के अंशों को जोड़ने के लिए प्रयुक्त होती है और नाटक की कथा को सुस्पष्ट बनाती है। 'हरिश्चंद खेल में तीनों प्रकार की तानें मिलती हैं। वैसे तो सारा नाटक ही मार्मिक प्रसंगों से भरा पड़ा है, पर जहाँ मार्मिकतम प्रसंग हैं वहाँ धूम की तानें प्रयुक्त हुई हैं। उदाहरण रूप में रानी के एकमात्र आश्रय रोहितास की सर्पदंश से मृत्यु हो चुकी है और उस पर यह कलंक लगाया जाता है कि वह श्रेष्ठि-पुत्र को डाकिन बनकर खा गई; परिणामस्वरूप उसका वध अपने पति द्वारा किया जाने वाला है। ऐसे अवसर पर उसकी व्यथा फूट पड़ती है—

अजी थारो चित में दया आसरो थारो।
वह झूठा लगे कलंक नहीं म्हारो सारो।
तुम मारो नहीं भरतार कहूँ दया तोसे।
अब थारो सह्यो नहीं जाय पुत्र दुख मोसे।
वन खंड में लग ज्या आग नीर ले आऊं।
पानी में लागी आग कहाँ मैं जाऊं।
अब वचन पीया को दुख सयो नहीं जावे।
यां तुम बिन खाविन्द कौन सहाय पे आवे।

सामान्य तानों में दोनों पात्र समवाची हैं। पात्रानुकूलता और घटना-प्रवाह को लेकर चलने वाली तानें चरित्र-चित्रण में भी सहायक हैं।

उद्देश्य

हरिश्चंद नाटक का मुख्य उद्देश्य सत्य की प्रतिष्ठा करना है जिसका आद्यान्त निर्वाह किया गया है। गौणत: यह नाटक पारिवारिक आदर्शों, त्याग और तितिक्षा को भी प्रतिष्ठा करता है। भक्तिदृढ़ता और ईश्वर-विश्वास जिस सीमा तक दिखाया गया है वह भक्तों का सर्वस्व है। इस सीमा पर पहुँचने पर ईश्वर की प्राप्ति निश्चित है। सत्य की प्रतिष्ठा व्यक्तिपरक और परिवारपरक दिखाई गई है। अपने 'प्राण जाहि पर बचन न जाहीं' का आदर्श प्रस्तुत करके नाटककार ने सत्य प्रेम का अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है। राजा हरिश्चंद्र के उपाख्यान का यह आदर्श जहाँ साहित्यकारों को सर्जना-प्रेरणा देता रहा है वहाँ महात्मा गांधी-जैसे अनेक व्यक्तियों को भी इसने प्रेरित किया है।

रस

हरिश्चंद नाटक का अंगीरस करुण है। नाटक में आदि से अन्त तक करुण रस की अबाध धारा उथली और गहरी रूप में प्रवाहित मिलती है। आलम्बन हैं नायक, नायिका और रोहितास। एक सम्राट् को राज्यहीन बनाकर ग्रीष्म में संतप्त भूमि पर सपरिवार पैदल चलते दिखाना और फिर उसकी आँखों के सामने ही उसकी सतीसाध्वी पत्नी को वेश्या के हाथों बेचा जाना दिखाना कम शोक-पूर्ण प्रसंग नहीं हैं। विपत्तियाँ भीषण से भीषणतर होकर इस परिवार को विकलतर और विकलतम बनाती रहती हैं, जो दर्शक को साश्रु व अवरुद्ध कंठ करती हैं। लेखक ने बीच-बीच में शोक स्थायी को गहरा बनाने के लिए प्रसंगगत और प्रसंग से हटकर भी करुण चित्रों की सृष्टि की है।

नाटक की परिणति सुखान्त है और अन्त में भगवान् के प्रकट होने से इसे भक्तिरस-प्रधान ग्रंथ कहा जाने का भ्रम उत्पन्न हो सकता है, पर ऐसा नहीं है। भक्तिरस तो केवल अन्तिम एक कथन में सिमटा पड़ा है ; नाटक में आदि से अन्त तक की घटनाओं और कथनों में इसका अभाव-सा है। जब-जब संकट प्रस्तुत होते हैं तब-तब नायक या नायिका भाग्य या कर्मफल में उनका समाधान खोजते रहते हैं ; ईश्वरोन्मुख, नहीं बनती है ; न उनमें भक्त की भावना-तरंगें ही उद्वेलित हैं। हाँ, उनमें साहस और धैर्य अवश्य है जो उन्हें घटनाचक्र में होकर अन्त तक ले जाता है—कभी-कभी उनमें भी कमी आती है। अतः नाटक का अंगीरस करुण ही है।

छंद

नाटक से 'ढाई कड़ी का दोहा' छंद प्रयुक्त हुआ है जो हाड़ौती की 'रामलीला' का प्रिय छंद है। इस छंद की प्रथम और तृतीय पंक्तियाँ समान मात्राओं की होती हैं और मध्य में आधी पंक्ति आती है, जिसकी १६ मात्राएँ होती हैं। पहली और तीसरी पंक्तियों में १६-११ व १६-११ के क्रम से कुल ५४ मात्राएँ होती हैं। नाटककार ने बीच-बीच में अन्य छन्द भी प्रयुक्त किये हैं। लावणी छन्द का प्रयोग रानी की करुण प्रार्थना के अवसर पर हुआ है। यह देशी राग है और इसका प्रयोग लोकगीतों में होता है। लावनी में स्थायी के अनन्तर अंतरा की ४ पंक्तियाँ भिन्न तुकान्त होने के पश्चात् ५वीं पंक्ति स्थायी भी सतुकान्त होती है और स्थायी का या उसके अंश का आवर्तन होता है।[1] पर इस नियम का भी पालन इस नाटक में नहीं हुआ है। कभी-कभी किसी तान के आरम्भ में 'टेर शीर्षक' से यह छन्द भी प्रयुक्त हुआ है—

---

१. डा० सुधीन्द्र—हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ ४४५

पुत्तर तेरा डस तिया काळ भुजंग
अंग को लीलो पड़ गयो अंग ।

पर ३६ मात्राओं के इस छन्द का प्रयोग नाटक में अत्यल्प हुआ है ।

भाषा

इस लोकनाटक की प्राप्ति प्रस्तुत लेखक को बूंदी (हाड़ौती क्षेत्र) से प्राप्त हुई है । अतः सहज कल्पनीय है कि इसकी भाषा हाड़ौती होनी चाहिए । नाटक की भाषा पर भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि इसकी भाषा हाड़ौती और खड़ीबोली का मिश्रण या खिचड़ी रूप है जिसमें नाटककार का झुकाव हाड़ौती की ओर है । उस समय खेलों में जो भाषा स्थान बनाती जा रही थी उसमें तत्तत् स्थानीय बोलियों के साथ खड़ीबोली का भी प्रवेश हो रहा था । इसलिए यह मिली-जुली भाषा लोकनाटकों में अपना स्थान बना रही थी । हाड़ौती की ओर झुकाव होने से उसके मुहावरे इसकी भाषा में आये हैं और नामपद ओकारान्त बन गये हैं—

वह झूठा लागै कलंक नहीं म्हारो सारो ।

यहाँ 'म्हारो सारो नहीं' मुहावरा आया है और म्हारो तथा सारो दोनों ओकारान्त हैं । पर कहीं इसी नाटक में म्हारो के स्थान पर 'मेरा' भी प्रयुक्त हुआ है । भूतकालीन दिया (हि०) का दीना (हा०) रूप भी मिलता है ।

कहीं-कहीं 'तो से' जैसे व्रज भाषा के प्रयोग भी मिल जाते हैं । परन्तु ऐसे प्रयोग अत्यल्प हैं ! संस्कृत के अनेक शब्द तो अपने तत्सम रूप में गृहीत हुए हैं; यथा—पातक, मति, मक्षक, पर जो हाड़ौती की प्रकृति से मेल नहीं खाते हैं उनके अर्धतत्सम रूप ही अपनाये गए हैं—वीप्र, धरम, भगति आदि ।

फ़ारसी के शब्द—दाग, हुकम आदि भी हाड़ौती की प्रकृति से मिलकर आये हैं ।

लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग से अभिव्यक्ति-सामर्थ्य में वृद्धि हुई है उसकी शब्दावली में अनुरणनात्मकता भी है—

झड़ी नैण सै लागी बरसता चणमण-चणमण नीर

उसकी भाषा में प्रसाद गुण सर्वत्र व्याप्त है । वह सरल, स्पष्ट और संगीतानुकूल होने से इन गेय नाटकों के अधिक अनुकूल है ।

इसकी भाषा में अलंकारों का सहज ग्रहण हुआ है । कहीं-कहीं भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से अलंकारों की झड़ी-सी मिलती है—

मीन कवड़ जल बाहर पटकी लेगी खूंखड़ा खोद ।
मणी बिन फणी गयो मन मोद ।
पुत्तर बिना हो गयो अंधेरो सूनी कर गयो गोद ।

कर गयो सूनी गोद लाल बिन हो गयो घोर अंधार।
गाय को बछड़ो लीनू मार।
भटका आवे लाल बरसता बादल नैनां धार।
दंत बना गज फीका-फीका सूर बना बागात।
चन्द बिन फीकी लागै रात।
दो कोड़ी की नार कंत बिन ज्यूं बेटा बिन मात।
तरवर फीका लागै पात बिन, लिन चुड़ला बिन हाथ।
चूंप बिन फीका लागै दांत।

अभिनय

हरिश्चन्द लीला का अभिनय लोक-मंचों पर होता है जिनके लिए एक चबूतरा या तख्त पर्याप्त होता है। पर्दे भी विशेष नहीं होते हैं और न मंच को वातावरणानुकूल बनाने के लिए अन्य किसी प्रकार की मंच-सामग्री का उपयोग होता है। ऐसे पर्दे नहीं होते जिन पर वन-खण्ड, राजप्रासाद आदि के दृश्य चित्रित हों। फिर भी छोटी-मोटी वस्तुओं को लाकर अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयास अवश्य किया जाता है। ऐसी अवस्था में भी मंच पर रोहितास के शव को चिता पर दिखाना और चिता के बह जाने की बात भोले दर्शकों के गले उतरवाना ऐसा आयोजन है जो कठिन प्रतीत होता है। गंगा-तट से जल भरने की बात भी दर्शक को कल्पना के आधार पर ही ग्रहण करनी पड़ेगी।

नाटक-शास्त्र में चिता व शव-दाह के दृश्य दिखाना वर्जित है, पर रंग-मंच पर रोहितास का शव अधिक प्रतिकूल इसलिए नहीं होगा कि वह किसी द्वारा मारा नहीं गया है—रक्तपात-जैसा प्रसंग नहीं है। सत्य-व्रत के निर्वाह के प्रसंग में शोक को और तीव्र करने का एक दृश्य-मात्र है। दूसरे, यह दृश्य सुखद अवसान को प्राप्त होता है। अतः अन्तिम रूप से इसका वीभत्स प्रभाव न पड़कर दृश्य-समष्टि और घटना-समष्टि में यह दर्शक के मन पर पड़नेवाले अंतिम प्रभाव को अधिक गहरा बनाता है।

नाटक का रस—करुण रस आरम्भ से ही दर्शक का ध्यान आकृष्ट करके चलता है। घटनावली का क्रम दर्शक में कहीं पर भी रस-शैथिल्य नहीं आने देता। घटनाएँ इतनी मार्मिक और इतनी आकर्षक हैं कि दर्शक प्रत्येक प्रसंग में रमता भी है और आगे क्या होगा—यह जानने को उत्सुक भी रहता है। भावों की सघनता और तीव्रता इसे सँभालकर चलने के लिए पर्याप्त है; फिर कथोपकथन (तानें) कितने ही शिथिल क्यों न हों।

'हरिचन्द' के कथोपकथन भी अभिनय की दृष्टि से अत्यन्त आकर्षक हैं। प्रायः वीररस या शृङ्गाररस के अभिनय में लोक अभिनेताओं को अंग-संचालन

के अधिक अवसर मिलते हैं। क्योंकि उनका अभिनय आंगिक, वाचिक और आहार्य ही होता है (सात्त्विक की ओर उनका ध्यान नहीं जाता है)। इस नाटक के शोकपूर्ण कथनों के अभिनव में अभिनेता को कोई विशेष कठिनाई नहीं होगी। इसमें आहार्य के लिए पर्याप्त गुंजाइश है और आंगिक तथा वाचिक भी अपना महत्त्व रखते हैं। अश्रुप्लावन (सात्त्विक अभिनय) के अभाव में अभिनेता अपनी आवाज़ को गिराकर और अंग-संचालन में अशक्तता दिखलाकर भी अभिनेता इसका सफल अभिनय कर लेते हैं।

दर्शक की सुपरिचित कथा का अभिनयकाल भी लम्बा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कोई भी लोकनाटक ५-६ घण्टे बिना समाप्त नहीं होता है। २-३ घण्टे की सीमा तो साहित्यिक नाटकों की होती है। ऐसे नाटकों की नहीं जो संगीत और काव्य का एक साथ आनन्द प्रदान करते हैं और जिसके दर्शक कृषिकार्य से निवृत्त होकर काफ़ी फुर्सत में होते हैं तथा जो राजा, सामंत और भक्त की जीवन-पद्धति को देखने के लिए पर्याप्त संस्कार बचपन से ही बना लेते हैं।

इस प्रकार यह लोकनाटक अभिनय की दृष्टि से एक सफल नाटक स्वीकार किया जा सकता है।

• • •